योजना के विभिन्न पहलू

प्रकाशन विभाग
सूचना और प्रसारण मन्त्रालय

ज्येष्ठ १८८२ (जून १९६०)

इस पुस्तक में योजना आयोग की ओर से प्रकाशित पाक्षिक पत्र 'योजना' (हिन्दी) के कुछ चुने हुए लेख संगृहीत हैं। इन लेखों के अतिरिक्त योजना आयोग द्वारा प्रस्तुत तीसरी योजना सम्बन्धी दो विशेष लेख और प्रधान मंत्री नेहरू का एक अत्यन्त प्रासंगिक भाषण भी दिए गए हैं। हमारा विचार इस तरह की एक पुस्तक माला आरम्भ करने का है। उद्देश्य यह है कि योजना सम्बन्धी सामग्री प्रबुद्ध जनता तक पहुंचे और योजना की समस्याओं पर और अच्छी तरह विचार हो।

निदेशक, प्रकाशन विभाग, पुराना सचिवालय, दिल्ली, द्वारा प्रकाशित
तथा प्रबन्धक, भारत सरकार मुद्रणालय, फरीदाबाद, द्वारा मुद्रित

विषय-सूची

भारत को सम्पन्न बनाना है

जवाहरलाल नेहरू

हमारे सामने इस वक्त बहुत से सवाल हैं। देश में गरीबी है, बेकारी है, अशिक्षा है। उन सब को दूर करने के लिए हमें भारत को सम्पन्न बनाना है, हमें अपनी पैदावार बढ़ानी है, हमें अपने छोटे और बड़े कारखानों और व्यवसायों का विकास करना है। पर ये सब काम आखिर में ज़मीन पर आते हैं यानी हम ज़मीन से ही पैदा करते हैं। अगर हम भूमि से काफी नहीं पैदा करेंगे, तो न हमारे कारखाने बन सकेंगे न कुछ और। हम कारखाने बनाना चाहें, बड़ी-बड़ी विकास योजनाएं बनाना चाहें, सब में रुपया लगता है और रुपया हमारी ज़मीन की आमदनी से या और ज़रियों से आता है। इसमें ज़मीन का बड़ा भारी स्थान है। अगर ज़मीन से हमें काफी आमदनी नहीं होती, तब देश के और बड़े-बड़े कामों के लिए पैसा भी नहीं होता। यह काफी मोटी बात है।

एक दफा अगर कारखाने वगैरह बन जाएं, तो बहुत सारे लोगों को रोज़गार भी मिले और देश में धन-दौलत पैदा हो। लेकिन इस वक्त जब हमें यह सब कुछ बनाना है, तो उसमें हर तरफ से बहुत खर्च करना पड़ता है, और आमदनी जल्दी से नहीं होती क्योंकि कारखानों को बनाने और चालू करने में बरसों लगते हैं। लोहे के बड़े-बड़े कारखाने बन रहे हैं, तीन-चार बरस से बन रहे हैं। खर्च करते-करते अब जाकर कहीं उनसे आमदनी शुरू हुई है। मेरा मतलब यह है कि भारत को उठाने का यह सिलसिला हमारे और आपके सामने है। यह इतना बड़ा है कि इसमें बहुत पेंच हैं और इसमें हर तरफ से हमें अपना काम बढ़ाना होता है।

सब तरह से आगे बढ़ना जरूरी

यह नहीं कि हम एक तरफ से बढ़ गए, दूसरी तरफ से पीछे रह गए। अगर हम एक हिस्से में पीछे रह गए तो हम आगे बढ़े हुए हिस्से से भी पीछे खींच लिए जा सकते हैं। इसलिए सारे भारत को हर तरफ से बढ़ना है। एक देश में आप जानते हैं कि हजारों काम होते हैं। बड़े-बड़े कारखाने, छोटे-छोटे कारखाने, हजारों किस्म के ग्राम-उद्योग, शहर के काम, गांव के काम वगैरह। लेकिन हिन्दुस्तान में हमारे लिए जो बुनियादी बात है, वह यह है कि ज़मीन से क्या पैदा होता है। और उसमें भी ज्यादा ज़रूरी यह है कि खाने-पीने का सामान, गल्ला वगैरह कितना पैदा होता है। और चीज़ें भी आपके यहां होती हैं। ठीक है, वे हों। क्योंकि इस समय जितनी हमारी पंचवर्षीय या विकास योजनाएं हैं, उन सब का केन्द्र यह है कि हिन्दुस्तान में ज़मीन से क्या पैदा होता है। अगर ज़मीन से हम ज्यादा पैदा न करें तो हमारा सारा हिसाब गड़बड़ा जाता है। आप यह एक बात याद रखें।

ज़मीन से उपज बढ़ाएं

दूसरी बात यह याद रखिए कि ज़मीन से हम यहां जो पैदा करते हैं, उसकी औसत और देशों से बहुत कम है। यह अजीब बात है। हमारे अच्छे तगड़े काम करने वाले लोग दिन-रात मेहनत करें और पैदा करें, फिर भी जो और देशों में होता है, उसका आधा-चौथाई हो। यह भला क्या बात हुई? हमारे दिमाग को कुछ बीमारी लग गई है या हमारे हाथ-पैर को या ज़मीन को? गौर करने की बात है न? हम क्यों आधा पैदा करें? जब आप सोच लें हम यहां जितना पैदा करते हैं, उसको हम दुगुना-तिगुना कर दें, जैसा कि हम कर सकते हैं और कुछ लोगों ने यहां किया भी है, तब देश की आमदनी एकदम से दुगुनी-तिगुनी हो जाती है। आमदनी दुगुनी-तिगुनी हो जाने से लोगों को तो फायदा होता ही है, उससे सारे देश को लाभ होता है। देश आगे बढ़ता है। तरह-तरह के काम, तरह-तरह के कारखाने बनते हैं। इसलिए हमारे सामने ज़मीन से ज्यादा पैदा करना ही सबसे बड़ा सवाल है।

बाहर से गल्ला न मंगाना पड़े

सबसे पहले तो गल्ले का मसला है, क्योंकि हम नहीं चाहते कि कभी भी देश में खाने-पीने की कमी हो। जैसे पारसाल (१९५८) उससे पिछले साल (१९५७) फसल खराब हुई, गल्ले की कमी हुई और बाहर से मंगाना पड़ा। कहां तो हम चाहते हैं कि हम अपनी ज़मीन से लाभ उठाएं और कहां हमें बाहर से अन्न मंगाना पड़ा। इससे हमारा दिवाला निकल जाता है। उसके लिए पैसे देने पड़ते हैं। यह बात अव्वल है, और बातें थोड़ी देर के लिए आप भूल जाएं। ज़मीन से अधिक पैदा करना है। और अगर कोशिश करें तो ज़मीन से बहुत अधिक पैदा हो सकता है, आप तो जानते हैं। यह बात याद रखने की है कि और देशों में फी एकड़ हिन्दुस्तान से दुगुना-तिगुना पैदा होता है। यों तो यहां भी तराई के फार्म में, मेरा ख्याल है कि हमारी औसत से दुगुना-तिगुना पैदा होता होगा। आप लोग अच्छे काम करने वाले हैं। आपने मेहनत की है और आपके यहां भी अक्सर ट्रैक्टर वगैरह चलते हैं। ट्रैक्टर वगैरह चलाना तो कोई खास बड़ी बात नहीं है। मगर वह कोई बुरी बात भी नहीं है। ज़ाहिर है कि ट्रैक्टर वहां चल सकते हैं, जहां हों। अगर किसी आदमी के एक एकड़, दो एकड़ ज़मीन हो तो वहां कौनसा ट्रैक्टर चले?

खूब मेहनत कीजिए

तो सवाल हमारे सामने है कि हम खेती म क्यों इतने गिर गए? यह जो एक मानपत्र पढ़ा गया, उसमें एक इशारा था कि बहुत दिन की गुलामी से यह बात हो गई। मैं इसको नहीं मानता। हर बात को दूसरे के कन्धे पर डाल देना कि उसकी वजह से हुई, मैं कहता हूं कि हमारा कसूर है सब। हमारी जहालत से हुआ है। और जो हो रहा है हमारी जहालत से, हमारी कमज़ोरी से, हमारी मूर्खता से, हमारी बेवकूफी से, हमारी आपस की फूट से, जो चाहिए कह दीजिए। हमेशा किसी और पर ऐब लगा देना यह फिजूल बात है। तो इस मुल्क को हम कोंच-कोंच के उठाएंगे। आप तगड़े बन कर, आगे बढ़ कर

हाथ में हाथ मिला कर आगे बढ़ें, मेहनत करें। मैं आप से कहा चाहता हूं, बुरा आप न मानिए। मैं सिर्फ आपके लिए नहीं कहता। लेकिन हिन्दुस्तान में और मुल्कों के मुकाबले में बहुत कम लोग मेहनत करते हैं। कोई मुल्क हो चाहे रूस हो, चाहे अमेरिका हो, चाहे दफ्तर में हो चाहे खेतों में, चाहे कारखानों में, ज़्यादा मेहनत करते हैं। हां, मैंने माना कि वे खूब कमाते हैं। हमारा दस गुना कमाते हैं। लेकिन मेहनत करते हैं। यहां हमारे देश में, मैं तो हैरान हूं, हर तीसरे-चौथे छुट्टी होती है। जितनी छुट्टियां हिन्दुस्तान में हैं, उतनी दुनिया के किसी मुल्क में नहीं हैं। यहां कौमी छुट्टियां हैं, हिन्दू त्यौहार हैं, मुस्लिम त्यौहार हैं, सिख त्यौहार हैं, बौद्ध त्यौहार हैं, जैन त्यौहार हैं। सदा त्यौहार ही त्यौहार आता रहता है। काम करने का मौका ही नहीं मिलता, अजीब तमाशा है। और आखिर दुनिया काम से चलती है। त्यौहार बड़ी अच्छी चीज़ है। हमें मनाना चाहिए। अपने बुज़ुर्गों के त्यौहार हैं। लेकिन यह मेरी समझ में नहीं आया कि त्यौहार मनाने का यह तरीका क्यों है कि उस दिन काम रोक दिया जाए। इसलिए औरों को बुरा-भला कहना काफी नहीं है। हमें समझना है कि हममें कमज़ोरियां आ गई हैं और उन्हीं कमज़ोरियों से हम आजकल की दुनिया में बहुत दर्जे तक पिछड़े जा रहे हैं, क्योंकि और लोग ज़्यादा काम करने वाले हैं और मेहनत से बढ़ रहे हैं।

एक तो काम करने का अच्छा तरीका, दूसरे काम करना, दोनों ज़रूरी हैं। आप खेती को लीजिए। आखिर जैसे हज़ार वर्ष पहले खेती होती थी अगर वैसे ही हम करते जाएं तो नई दुनिया से हमने कुछ फायदा नहीं उठाया—यह ज़ाहिर-सी बात है।

तरक्की ज़रूरी है

आखिर दुनिया में कुछ तरक्की होती है। लोग नई बातें सीखते हैं और हम वही बात करते जाएं, वैसे ही हल चलाएं, जिनसे दो-तीन इंच ज़मीन खुदे, जैसे हज़ार वर्ष पहले था, तो इसमें कौन आश्चर्य की बात है कि एक एकड़ ज़मीन में हम आठ, दस मन से अधिक पैदा न

कर सकें जबकि और मुल्कों में पच्चीस, तीस, चालीस मन तक पैदा करते हैं। वहां वे लोग अच्छी तरह ज़मीन खोद कर, अच्छी खाद डाल कर, अच्छा बीज डाल कर, पानी वगैरह का प्रबन्ध ठीक कर अपनी खेती करते हैं। इसके माने यह हैं कि हमें नए तरीके सीखने हैं। नए तरीकों में मैं बिलफेल यह नहीं कहता कि सब जगह ज़रूर बड़े-बड़े ट्रैक्टर आएं। जहां ट्रैक्टर हों, भला है। सारे देश में इस समय ट्रैक्टर नहीं आ सकते। लेकिन बहुत सारी और बातें हो सकती हैं, जिनसे बगैर ट्रैक्टर के ही आजकल की दुनिया में खेती में तरक्की की जा रही है। उससे हमें भी सीखना है। खेती में या कारखाने में जहां भी तरक्की हुई है, नए विज्ञान से, अभ्यास से, उससे हमें फायदा उठाना है। जहां हम फायदा उठाते हैं, वहां उसका फल पाते हैं। हम यह कह दें कि हम नहीं कुछ सीखेंगे और न सीखने को तैयार हैं और जो हमारे बाप-दादा-परदादा करते आए, वही करेंगे, तो फिर बाप-दादा-परदादा की तरह से आप गरीब भी रहेंगे। आगे नहीं बढ़ेंगे। यह सीधी बात है। कोई जादू थोड़े ही है कि हम पर दौलत टूट पड़े। मेहनत का फल ही दौलत होता है।

सहकारी तरीके

ज़मीन के बारे में काम करने के जो यह नए तरीके हैं, वह छोटे-छोटे हिस्सों में किस तरह कारगर होते हैं? फर्ज़ करो, जैसे अक्सर होता है, एक आदमी के पास एक एकड़ से ढाई-तीन एकड़ तक ज़मीन हो। अब उसमें आसानी से वह नए तरीके चल नहीं सकते। उस बेचारे किसान के पास हिम्मत नहीं है, दम नहीं है, पैसा नहीं है। इसलिए यह तजवीज हुई कि किसान कोआपरेटिव—सहकारी—तरीके से काम करें। यह कि गांव के लोग अपनी कोआपरेटिव सोसाइटी, सहकारिता, के दस्तूर को मान कर संघ बना कर वह करें। यानी शुरू में उनकी ज़मीन तो अलग रहे, लेकिन मिल कर वह खरीद-फरोख्त करें, मिल कर वह सोसाइटी-संघ से बीज लें, खाद लें, ज़रूरी चीज़ें लें, अच्छे हल ले दें और जो पैदा करें वह सोसाइटी उस उपज को बेचे। इसमें भी

फौरन खेती अधिक अच्छी होगी। नए तरीके आ जाएंगे और गांव के सब रहने वाले जो सहकारी संघ में हिस्सेदार हैं, उनका लाभ होगा। इसमें कोई शक नहीं। यह तो मामूली समझने की बात है। क्योंकि एक-दो एकड़ ज़मीन पर इतनी मेहनत करो तो किसान के पास करने का सामान नहीं है। हां, यह बात मैंने मानी कि किसी के पास सौ, दो सौ या पांच सौ एकड़ है, वहां वह कर सकता है और उसने किया भी है।

ज़मींदारी का अन्त क्यों ज़रूरी था

लेकिन फिर वहां एक कठिनाई यह आ जाती है कि हमने कुछ दिन हुए आपको याद होगा, ज़मींदारी प्रथा का अन्त किया था। क्योंकि वह अच्छी नहीं थी, क्योंकि सिद्धान्त रूप से, जो लोग काम नहीं करते, उनको औरों के काम पर नहीं रहना चाहिए। और ज़मींदारी प्रथा के माने ही यह थे कि काम किसान करे, काश्तकार करे और उसका अधिकतर फायदा ज़मींदार पाए, हालांकि वह कोई काम न करे। और बातों में भी हमारे यहां अब तक यह बात है कि काम एक करे और लाभ दूसरा उठाए, यह अच्छा असूल नहीं है। तो ज़मीन स उसको हटाना ज़रूरी था, क्योंकि अगर हम नहीं हटाते थे तो कभी ज़मीन में तरक्की नहीं हो सकती थी। आप जानते हैं काश्तकार, किसान बड़ी मेहनत करे, उसका लगान बढ़ जाए, वह ज़मींदार के पास जाए तो वह काहे को मेहनत करे? जहां ज़मींदारी प्रथा होती है वहां हल्के-हल्के ज़मीन की पैदावार गिरने लगती है। आमतौर पर यह हुआ भी। वह तो एक असूल के खिलाफ बात थी, उसको हमने हटाया।

सीलिंग या जोत की सीमा क्यों?

अब उसका एक नतीजा निकलता है कि फिर से नए ज़मींदार न बन जाएं, जो बड़े-बड़े हलके अपने काबू में लाएं। इसलिए यह सवाल उठा कि कोई न कोई रोक हो कि कहां तक एक आदमी ज़मीन

रख सकता है। इसे सीलिंग कहते हैं, यह आप जानते हैं और गालिबन आप में से कुछ लोगों को परेशानी भी हो। यह बड़ी गौरतलब बात है कि इसका क्या नतीजा होगा।

अब मैंने जो आपसे कहा वह तो एक आम असूल की बातें मैंने आपसे कहीं, जो हर जगह के लिए हैं। हिन्दुस्तान भर के लिए हैं। लेकिन उस आम असूल पर हम अमल कैसे करें, अब इस पर विचार करना है। कई बातों को देख कर, खास-खास मुकामों पर हमें अलग-अलग सोचना होगा। एक तो यह कि हम चले तो अपनी पैदावार बढ़ाने और उसमें कुछ ऐसी बात की जिससे उपज घट गई तो यह कुछ अक्ल की बात नहीं है। यहां तराई वगैरह में आप तरह-तरह के लोग हैं। कुछ इधर-उधर के, कुछ फौजी लोग, कुछ शरणार्थी, कुछ कहीं के, बंगाल के, कुछ कहीं के। और जहां तक मुझे मालूम है आपने बहुत मेहनत की है और उसका अच्छा नतीजा निकला। यहां की सारी ज़मीन हरी हो गई है। अच्छा काम किया आपने अपनी-अपनी पूंजी उसमें लगा दी, और गरज कि इस ज़मीन को काफी अच्छा किया, तरक्की की।

तो हमें इस बात पर गौर करना है कोई बात इस ढंग से नहीं करनी चाहिए जिससे आपने जो इतनी मेहनत की, उस मेहनत का फल आपको न मिले और ज़मीन से आपकी जो पैदावार होती है, उससे कम होने लगे। यह तो गलत बात है कि यहां छोटे-छोटे ज़मीन के हिस्से, लोगों के पास हैं, जैसे कि भारत में आमतौर से हैं।

हर गांव में तीन चीज़ें ज़रूरी

आजकल की दुनिया में छोटी-छोटी ज़मीनों में तब तक तरक्की नहीं हो सकती, जब तक कि वह मिल कर काम न करें। इसलिए यह तय हुआ और यह दुनिया में मंज़ूर है, इसमें कोई बहस की बात नहीं है कि कोआपरेटिव सोसाइटी, सहकारी संघ होने चाहिएं यानी एक-एक गांव में लोग मिल जाएं। जैसा मैंने आपसे कहा, अपनी ज़मीन अलग रखें, लेकिन खरीद-फरोख्त या पचासों बातें सहकारी संघ मिल

कर करें। जैसे गांव में एक पंचायत हो, उस गांव में सहकारी संघ भी ज़रूर हो। और एक तीसरी चीज़ बड़ी आवश्यक है हर गांव में स्कूल हो। मैंने तीन जड़ें बताईं। इसके बाद एक और कदम होता है और वह यह कि सहकारी संघ में लोग मिल कर अपनी खेती करें, तो उसमें ज़रा भी ज़मीन ज़ाया न हो। और जब मिल कर करते हैं, तब अगर वे चाहें तो ट्रैक्टर लगा सकते हैं या जिस तरह से चाहें कर सकते हैं, क्योंकि दो-तीन एकड़ में वह सब चलता नहीं है। अब यह सब बातें आपस में मंज़ूरी से हो सकती हैं, कोई जबर्दस्ती थोड़े ही करना चाहता है या कर सकता है? अगर करना चाहे तो भी ज़बर्दस्ती नहीं कर सकता। लेकिन हमारा ख्याल है कि इससे किसानों का, जिनकी ज़मीन है उन सब का लाभ होगा, देश का फ़ायदा होगा और हमारी खेती तरक्की करेगी। ताकत मिल कर होती है। आप अगर किसी कारखाने में काम करते हैं तो जानते होंगे मज़दूरों की ताकत मज़दूर सभा में ट्रेड यूनियन में होती है। अभी नागपुर में एक प्रस्ताव हुआ, उसमें यही बातें थीं। उस पर कुछ लोग बड़ा आन्दोलन कर रहे हैं कि यह तो बड़ी हानिकारक चीज़ है। खैर मैं इस बहस में तो यहां नहीं पड़ता। मेरा ख्याल है, वह गलती कर रहे हैं, धोखे में हैं। अगर उनकी राय से चला जाए तो भारत हमेशा गिरा हुआ, गरीब, पिछड़ा हुआ मुल्क रहेगा।

भारत को गरीबी के दलदल से निकालें

मैं चाहता हूं कि आप और हम एक बात का निश्चय कर लें कि अब हम अपने देश भारत को, गरीब नहीं रहने देंगे। हम इसको गरीबी के दलदल से निकालेंगे। हम इसको खुशहाल देश करेंगे। हम इसको ऐसा देश करेंगे, जिसमें कोई बेरोज़गार न रहे। मैंने माना, हम बड़े ज़ोर से कह दें हम यह करेंगे, वह करेंगे तो सिर्फ हमारे कह देने से तो नहीं हो जाता। इसमें समय लगता है, मेहनत करनी पड़ती है, और सब लोग मिल कर करें तभी होता है, एक-दो के करने से नहीं। इसीलिए यह पंचवर्षीय योजनाएं चलीं। देश के सब लोग मिल कर काम करें, सब तरफ खेती में, कारखाने में, छोटे कारखानों में, बड़े ग्राम-

उद्योगों, कारीगरी के कामों में और पचासों लाखों काम जो देश में हो रहे हैं, सब में तरक्की हो।

शिक्षा का प्रबन्ध आवश्यक

हर एक गांव में पढ़ाई हो, क्योंकि हर काम के लिए पढ़ाई बहुत ही ज़रूरी है। खेती के लिए भी पढ़ाई ज़रूरी है यह आप समझ लीजिए। अगर अमेरिका और बिलायत में खेती ज्यादा अच्छी होती है तो इसलिए कि वहां हर एक आदमी पढ़ा-लिखा है और पढ़ने से नए तरीके उनके सामने आ जाते हैं। इसलिए हम चाहते हैं एक-एक बच्चा, एक-एक लड़के-लड़की को स्कूल में पढ़ाने का इन्तज़ाम हो। यह आवश्यक है। लेकिन वह भी सवाल उठता है। हमारे देश में करीब नौ, दस करोड़ बच्चे हैं। आप सोचें, उनकी पढ़ाई का प्रबन्ध करना बड़ा मुश्किल है, उसमें बहुत खर्च बैठता है। लेकिन वह किया जाएगा। आवश्यक है कि इसमें कुछ वर्ष लेंगे। हम आशा करते हैं कि आठ या नौ वर्ष में सारे भारत में कोई बच्चा ऐसा न रहेगा, जो स्कूल न जाता हो। और बड़ों की भी पढ़ाई का इन्तज़ाम हो। यह सब बड़े-बड़े काम हैं।

सारे भारत की सोचिए

यह काम तभी हो सकते हैं जबकि एक तो हमारे सामने हिन्दुस्तान के बढ़ने का बड़ा नक्शा हो। याद रखिए कि आप सारे देश की बात सोचें, यह नहीं कि हमारी जाति बढ़े और हम दूसरी जाति वालों से कुश्ती लड़ें। यह नहीं कि हमारे मज़हब धर्म वाले बढ़ें, और दूसरे दबा दिए जाएं। यह तो जहालत की बातें हैं। हमें सारे देश की बात सोचनी है और जानना है कि अगर देश बढ़ेगा तो हम भी बढ़ते हैं, अगर देश नहीं बढ़ता तो हम भी नहीं बढ़ते। तो इसमें एकता होनी चाहिए। चाहे हमारा धर्म, मजहब, जाति कुछ भी हो, हमें मिल कर काम करना है और यह ऊंच-नीच, जहां तक बन पड़े मिटाना है। हम नहीं चाहते कि देश में एक तरफ बड़े अमीर हों और दूसरी तरफ बड़े गरीब हों। अब सब लोग एक से तो नहीं हो सकते हैं, लेकिन

कम से कम ऊंच-नीच न हो और कोई पुरुष या स्त्री कोई ऐसा न हो जिसको जिन्दगी की मामूली आवश्यक चीजें भी न मिलें। हर एक को खाना मिले, कपड़ा मिले, घर मिले, हर एक के लिए पढ़ाई का प्रबन्ध हो, स्वास्थ्य का प्रबन्ध हो और हर एक को काम मिले, तब देश मजबूती से चलेगा।

करना हमें और आप को है

अब यह काम आप सोचो, कितना बड़ा काम है। चलीस करोड़ आदमियों का इन्तज़ाम करना, बहुत बड़ा काम है। कौन करे यह इन्तज़ाम ? कोई बाहर से थोड़े ही करेगा ? आप ही को करना है, अपना इन्तज़ाम, गांव-गांव में, ज़िले-ज़िले में, शहर-शहर में, प्रदेश-प्रदेश में। कोई दूसरा थोड़े ही करेगा। इसीलिए यह जो गांव की पंचायतों को हम अधिक अख्तियार दिया चाहते हैं, अगर उनसे कोई गलती होगी तो हो, यह लाचारी होगी। और उसी सहकारी संघ को हम अधिकार दिया चाहते हैं। हर गांव में स्कूल तो होने ही चाहिएं। इस तरह से हम एक देश बनाना चाहते हैं, जिसमें अधिक-से-अधिक यह सहकारी तरीके से काम हो, चाहे कारखाने में, चाहे खेती में।

गांवों में खेती के अलावा भी काम हो

मैं आप से कह ही चुका हूं कि हिन्दुस्तान में ज़मीन पहली चीज़ है और सब कारखाने वगैरह बाद में आते हैं। जब मैं ज़मीन की बात कहता हूं तो उसके साथ यह माने नहीं सब देहातों, गांवों में खाली खेती हो। मैं चाहता हूं गांवों में भी छोटे-छोटे कारखाने आएं, गांवों में भी तरह-तरह के ग्राम-उद्योग बनें जो छोटी मशीनों के हों। इससे लोगों को काम मिले।

गांवों के लोग गांवों में ही पनपें

गांव के लोग गांव में रहें। मैं नहीं चाहता कि आपका लड़का स्कूल-कालेज जाकर फिर अपना गांव छोड़ दे और दिल्ली या लखनऊ

में जा बैठे और कहे हम बाबू बनें, हम नौकरी करेंगे । यह निकम्मी बात है। उसको बैठ के अपने गांव में काम करना और खेती करनी हो, या कोई कारखाना शुरू करना हो, सब उसे गांव में ही करना चाहिए । यह नहीं है कि बैठे हैं, ऊपर से नौकरी मिल जाए, तब हम हाथ-पैर हिलाएंगे । इस तरह से देश नहीं चलता, इसे याद रखें। मैंने जो बातें आपसे कहीं वे पुरुष-स्त्री दोनों के लिए हैं।

भारत के गाँवों का नक्शा कैसे बदलें

वी० टी० कृष्णमाचारी
उपाध्यक्ष, योजना आयोग

(१) पंचवर्षीय योजनाएं और खेती का उत्पादन

सामाजिक और आर्थिक विकास की किसी भी बड़े पैमाने की योजना की सफलता के लिए यह जरूरी है कि खेती का उत्पादन बढ़े। जो देश इस समय औद्योगिक रूप से उन्नत हैं, उनका यही तजर्बा रहा है और भारत जैसे कम विकसित देशों पर तो यह ज्यादा लागू होता है। जब दूसरी पंचवर्षीय योजना तैयार हो रही थी, उस समय योजना आयोग ने देश के सामने खेती के उत्पादन को दस साल के अन्दर दुगुना कर देने का लक्ष्य रखा। यह हमारे उस लक्ष्य के ही अनुसार है जिसके द्वारा हम सन् १९७६ तक प्रति व्यक्ति आय दुगुनी कर देना चाहते हैं। यदि शहरी और देहाती लोगों के बीच आय की खाई को बढ़ाना नहीं है, तो १९७६ तक देहात के लोगों की प्रति व्यक्ति आय कम-से-कम दुगुनी हो जानी चाहिए। तभी उस पैमाने पर औद्योगिक उन्नति के लिए सही नींव तैयार होगी जिसका कि हमने लक्ष्य बना रखा है।

दुगुनी आय का लक्ष्य

मैं दो प्रश्नों का उत्तर देना चाहता हूं—(१) क्या जो लक्ष्य सामने रखा गया है यानी सन् १९७६ तक देहात की प्रति

व्यक्ति आय दुगुनी हो जाए, उसको प्राप्त करना सम्भव है ? (२) यदि इस लक्ष्य को पूरा करना है तो क्या कार्य करना चाहिए ?

इसमें कोई सन्देह नहीं कि जो लक्ष्य हमने अपने सामने रखा है, वह प्राप्त हो सकता है। विश्व बैंक की रिपोर्ट में कहा गया है— "यदि तकनीक का सही उपयोग किया जाए, साथ ही सिंचाई और खेती के रकबे का सम्भव प्रसारण हो तो भारत अपनी खेती की उपज चौगुना या पंचगुनी कर सकता है। जब तक हम अपना लक्ष्य प्राप्त कर लें, तब तक और नई तकनीक निकलेगी और आगे और भी प्रगति के लिए रास्ता खुला रहेगा। इस लेख के अन्त में जो आंकड़े दिखाए गए हैं, उनमें यह देखा जा सकता है कि गत कुछ ही वर्षों में हमारे राज्यों में फसल उगाने की जो प्रतियोगिताएं हुई थीं, उनमें सबसे ज्यादा उपज कितनी थी। उन आंकड़ों को देखने से पता चलेगा कि स्थानीय औसत से वे बहुत ज्यादा हैं। जहां औसत ऊंची है, जैसे चावल के मामले में आन्ध्र, वहां ये आंकड़े बताते हैं कि और भी ६ गुनी उन्नति हो सकती है और जहां औसत कम है, जैसे चावल के मामले में उड़ीसा है, वहां १३ या १४ गुनी उन्नति की सम्भावना है। यही बात गेहूं के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। सारे राज्यों में बहुत से खेतिहर ऐसे हैं जो औसत से ५ या ६ गुनी ज्यादा उपज पैदा करते हैं। इन आंकड़ों से यह जाहिर होता है कि उन्नति की कितनी सम्भावनाएं हैं। यह सभी जानते हैं कि भारत के कई हिस्सों में ऐसे बहुत से खेतिहर हैं जो अपने फार्मों में सरकारी फार्मों की ही तरह ज्यादा उपज पैदा करते हैं।

हमारे किसान समझदार हैं

ऐसा समझने का कोई कारण नहीं है कि हमारे यहां के खेतिहर पुराने पंथी हैं और नए तरीकों को अपनाना नहीं चाहते। सन् १८९२ में भारत सरकार ने उस ज़माने के बहुत बड़े खेती विशेषज्ञ डा० वेलकर को भारत में खेती की उन्नति के सम्बन्ध में रिपोर्ट देने

के सम्बन्ध में कहा। सारे देशों की छान-बीन करने के बाद उक्त विशेषज्ञ ने यह रिपोर्ट दी—"भारतीय खेतिहर में जो सबसे अच्छे हैं, वे सब मामलों में औसत ब्रिटिश खेतिहर के बराबर हैं या उनसे अच्छे हैं। यदि देखा जाए कि भारत का सबसे बुरा खेतिहर क्या उत्पन्न करता तो यह कहना पड़ेगा कि उसके पास उन्नति की कोई सुविधाएं नहीं हैं और इस मामले में भारत की वाकई और देशों से तुलना नहीं हो सकती। फिर भी यहाँ खेतिहर धीरज के साथ विना माथे पर शिकन लाए काम करते रहते हैं जबकि दूसरे देशों में इस तरह लोग शायद काम न करें। इस सम्वन्ध में यह स्मरण रखा जाए कि इंग्लैंड में गेहूं की खेती भारत के शताब्दियों बाद शुरू हुई। इसलिए यह सम्भव नहीं है कि यहाँ का पुराना तरीका काफी उन्नत हो सके। हां, यहां जो कठिनाई है, वही यह है कि लोगों को सुविधाएं कम हैं, जैसे सिचाई और खाद की कमी है। यद्यपि यहां के लोग किसी नई वात को धीरे-धीरे ग्रहण करते हैं, फिर भी यदि खेतिहर को विश्वास हो जाए कि कोई तरीका बहुत अच्छा है और उससे लाभ हो सकता है तो वह उसे ग्रहण करने में हिचकिचाएगा नहीं।"

चतुः सूत्री कार्यक्रम

यह मन्तव्य उस युग में जितना सही था, आज उससे कहीं ज्यादा सही है। यदि खेतिहरों को वैज्ञानिक खेती करने की सुविधाएं दी जाएं तो वे अवश्य ही उसे अपनाएंगे।

पहली और दूसरी योजनाओं में खेती के विकास का एक सर्वांग सुन्दर कार्यक्रम आरम्भ किया गया है। भविष्य योजनाओं में उन्हें और बढ़ाना पड़ेगा ताकि सन् १९७६ तक देश के प्रत्येक परिवार को अपनी जोत का वैज्ञानिक उपायों के अवलम्बन द्वारा पूरा-पूरा उपयोग करने का मौका मिले। उद्देश्य यह है कि जमीन तथा सिंचाई सम्बन्धी साधनों का पूर्ण उपयोग करके एक स्वावलम्बी बहुमुखी कृषि अर्थ-व्यवस्था का विकास किया जाए।

इन कार्यक्रमों को इस रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है :—

पहले में ऐसे कार्यक्रम आएंगे जिनसे स्थायी उन्नति होती है, जैसे सिंचाई, मेड़ बांधना जिससे जमीन का क्षय न हो, भूमि रक्षण, जंगल रोकना आदि।

दूसरे में वैज्ञानिक खेती के ऐसे कार्यक्रम आते हैं जैसे उन्नत बीज, रासायनिक खाद, कारबनिक खाद और हरी खाद, उन्नत तकनीक, पहले से अच्छे औजार आदि।

तीसरे कार्यक्रम में ऐसे सामाजिक तत्वों का निर्माण है जिससे देहात में काम में न आई हुई जन-शक्ति का उपयोग हो सके।

चौथे कार्यक्रम में देहाती इलाके के ऐसे गैर-खेती वाले धन्धों को संगठित करना है, जैसे विधायन, कुटीर तथा छोटे पैमाने के धन्धे।

सिंचाई का महत्व

पहली श्रेणी के अन्तर्गत बहुद्देश्यीय बड़े, मंझले और छोटे सिंचाई कार्यों के द्वारा सिंचाई की सुविधाएं बढ़ाने की व्यवस्था को सबसे अधिक प्राथमिकता दी जाती है। पहली तथा दूसरी योजना में ऐसे कार्यों के लिए १,३३० करोड़ रुपए की व्यवस्था है। जब ये सिंचाई कार्य पूर्ण हो जाएंगे तो उनसे ३ करोड़ ८० लाख एकड़ ज़मीन पर सिंचाई हो सकेगी। इसकी तुलना हम उस आंकड़े से कर सकते हैं जो देश विभाजन के समय का है, उस समय २ करोड़ ६५ लाख एकड़ ज़मीन पर सिंचाई होती थी। यदि तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाए तो बहुत थोड़े से देशों ने इतने थोड़े समय के अन्दर इतना बड़ा कार्यक्रम हाथ में लिया है। यह हिसाब लगा कर देखा गया है कि सन् १९७६ तक सिंचाई वाली भूमि को १० १/२ से ११ करोड़ एकड़ तक पहुंचा देना सम्भव होगा। ऐसे सिंचाई कार्यों की योजना इस प्रकार बनानी पड़ेगी तथा उन्हें इस प्रकार कार्यान्वित करना पड़ेगा कि प्रत्येक सोपान पर जितना भी पानी जलाशयों में जमा हो, उसे खेती के काम में लाया जाए।

यदि छोटे सिंचाई कार्यों के सम्बन्ध में हिसाब लगा कर यह देखा जाए तो यह पता चलेगा कि उनके द्वारा ९ से लेकर १० करोड़ एकड़ ज़मीन तक की सिंचाई हो सकती है और यह लक्ष्य अधिक से अधिक सन् १९७६ तक

पूरा हो जाएगा। इस प्रकार से यह कहा जा सकता है कि सन् १९७६ तक सिंचाई वाली पूरी ज़मीन का रकबा करीब २० करोड़ एकड़ हो जाएगा।

सन् १९७६ तक खेती संगठित हो जाए

यदि यह मान लिया जाए कि अधिक-से-अधिक सिंचाई की सुविधाएं प्रस्तुत हो जाएं, फिर भी १५ करोड़ एकड़ ज़मीन पर सिंचाई की सुविधाएं प्राप्त नहीं होंगी, पर उनमें मेड़ बांध और मिट्टी संरक्षण तथा सूखी खेती आदि दूसरी तकनीकों से उपज बढ़ाई जा सकती है। इन उपायों को संगठित किया जाए और पूरे इलाके में सन् १९७६ तक चालू कर दिया जाए। इसमें एक महत्वपूर्ण पहलू यह है कि नदियों के पास के इलाकों में जंगल लगा दिए जाएं और वहां उपयोगी इमारती लकड़ी के पेड़ लगाए जाएं।

दूसरी पंचवर्षीय योजना में वैज्ञानिक तकनीक को जल्दी से अपनाने के सम्बन्ध में ब्यौरेवार कार्यक्रम हैं और वे उसके महत्वपूर्ण अंश हैं। इन्हें जारी रखना पड़ेगा और इनके दायरे को बढ़ाना पड़ेगा जिससे कि उसमें खेती वाला सारा क्षेत्र आ जाए। रासायनिक खाद के और भी कारखाने खोले जाएं और लोगों को वैकल्पिक ईंधन जैसे गोवर जलाने के वदले कोयला मुहैया किया जाए ताकि जला कर गोबर नष्ट करने की बजाय खाद के रूप में काम में लाया जा सके। खेती के औज़ारों और पौधों की बीमारियों पर भी अधिक ध्यान दिया जाए। तीसरी योजना के अन्त तक ये दोनों काम भी पूरे हो जाएंगे।

खेती के अलावा धन्धों की व्यवस्था की अभी तक देहातों में यथेष्ट प्रगति नहीं हुई। इस समय २६ खण्डों में विधायन, कुटीर, शिल्प तथा छोटे पैमाने के उद्योग-धन्धों के सम्बन्ध में अग्रगामी कार्य जारी हैं। इन अग्रगामी कार्यों में जो तजर्बे प्राप्त होंगे, उन्हें वृहत्तर क्षेत्र में इस आन्दोलन को बढ़ाने में कार्य में लाया जाएगा।

देहातों का कायाकल्प

मैंने ऊपर जो कुछ बताया है, वह इस उद्देश्य से बताया है कि सन् १९७६ तक यदि देहात में प्रति व्यक्ति आय दुगुनी करनी है तो कैसे कार्य करना पड़ेगा। पहली पंचवर्षीय योजना में प्रति वर्ष १७० करोड़ रुपया देहाती कार्यक्रमों के लिए आवण्टित था। दूसरी योजना में यही रकम २२० करोड़ रुपया हो गई। दोनों हालतों में अल्पकालीन, मध्यकालीन और दीर्घकालीन कर्ज, देहातों के विद्युतीकरण, रासायनिक खाद के कारखाने, देहातों में धन्धे आदि पर जो कोश आवण्टित है, उसे गिना नहीं गया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि तीसरी तथा बाद की योजनाओं में इन मदों की रकम को काफी बढ़ाना पड़ेगा। खेती की विभिन्न शाखाओं के उत्पादन सम्बन्धी लक्ष्य पर विचार किया गया है। यहां उनके ब्यौरे देने की ज़रूरत नहीं है। फिर भी उस सम्बन्ध में एक बात पर प्रकाश डालने की ज़रूरत है। तीसरी योजना में चावल, दाल आदि अनाजों के उत्पादन पर ज़ोर देना पड़ेगा। चौथी और पांचवीं योजनाओं में संरक्षणात्मक खाद्य, तिलहन, बागान की उपज जैसे कहवा, चाय और रबड़ और उद्योग-धन्धों के लिए कच्चा माल जैसे बड़े रेशे की रूई और सन इत्यादि पर ज़ोर देना पड़ेगा।

लक्ष्य और प्रयत्न

हमने अपने सामने जो लक्ष्य रखे हैं, वे महत्वाकांक्षापूर्ण ज्ञात हो सकते हैं, पर वे कुल मिला कर हमारी अर्थ-व्यवस्था के लिए जितना ज़रूरी है, उससे किसी भी तरह ज़्यादा नहीं है क्योंकि और बातों के अलावा इन सालों में जो आबादी बढ़ेगी, उसे भी गिनती में लेना है। ये लक्ष्य तभी सफलता के साथ पूर्ण हो सकते हैं जबकि दो शर्तें पूरी हो जाएं। पहली यह है कि प्रशासन सब दिशाओं में अपनी कार्य-कुशलता बढ़ाए। कार्यों के लिए जो योजनाएं बनाई जाएं, वे और भी सम्पूर्ण हों और उनका उद्देश्य, हर सोपान में जो खर्च हो रहा है उसे देखते

हुए, ठोस नतीजे प्राप्त करना हो। कार्यान्वयन तुरन्त हो और कार्य-नीति ऐसी न हो कि उसमें किसी प्रकार की देरी की गुंजाइश हो। ज़िला प्रशासन वितरण की एक ऐसी पद्धति संगठित करे जिससे कि पूर्तियां, सेवाएं और कर्ज़ देहात के ७ करोड़ परिवारों को सही समय और सही जगह पर प्राप्त हो।

दूसरी बात यह है कि सरकारी और गैर-सरकारी नेतृत्व सब सतहों पर कन्धे से कन्धा मिला कर काम करे और हर जगह जनता योजनाओं को बनाने में हाथ बंटाए और यह अनुभव करे कि योजनाएं उन्हीं की हैं। इसी प्रकार और केवल इसी प्रकार उनमें यह भावना उत्पन्न होगी कि योजना उनकी है और इस प्रकार योजना सफल होगी। इन सब बातों से यह ज़्यादा ज़रूरी है कि देहातों में जो स्वायत्त शासन की इकाइयां हैं जैसे पंचायत और सहकारी समितियां, वे इस प्रकार से संगठित हों और जनता के हित के लिए लाभदायक पूंजीगत सामान को इस तरह से निर्मित करें कि जब भरपूर खेती सम्बन्धी कार्य नहीं हो सकता तो उन्हीं का पूरा लाभ उठाया जाए।

इस प्रकार का पूंजी निर्माण बहुत ही असरदार तरीका है जिसमें कम विकसित अर्थ-व्यवस्थाएं अपने ही प्रयास से बड़े पैमाने का सामाजिक और आर्थिक विकास प्राप्त कर सकती हैं। मैं यहां तीसरी पंचवर्षीय योजना में यह सुझाव रखता हूं कि देश ऐसा पूंजी निर्माण करे कि प्रति वर्ष ५०० करोड़ की आय हो। इसका अर्थ यह होगा कि देहाती क्षेत्र में काम करने वाला प्रत्येक व्यक्ति ५० रुपए का प्रति वर्ष पूंजी निर्माण करे। लोकतान्त्रिक योजना निर्माण का सार यह है कि गरीबी को दूर करने के लिए जो लोग साथ काम कर रहे हैं, वे एक साथ और सामाजिक तरीके से मिल कर काम करें। इस समय जबकि देश के सामने बहुत कठिन परिस्थिति आई है, उसका सामना इस प्रकार के प्रयासों से ही हो सकता है।

राज्य की औसत उपज तथा फसल प्रतियोगिता के अनुसार

अधिकतम उपज

चावल

राज्य	वर्ष	प्रति एकड़ उच्चतम उपज (पौंडों में)	प्रति एकड़ राज्य की उपज (पौंडों में)	स्तम्भ ३ और ४ का अनुपात
१	२	३	४	५
आन्ध्र प्रदेश	१९५१-५२	४,७१०	८७९	५.४
	१९५२-५३	६,१५४	९०५	६.८
	१९५३-५४	६,६५२	१,०७८	६.२
	१९५४-५५	६,७०७	१,०८७	६.२
	१९५५-५६	६,८५९	१,०१५	६.८
	१९५६-५७	६,०७५	१,००६	६.०
असम	१९५१-५२	५,६७७	८०९	७.०
	१९५२-५३	५,९२४	८७४	६.८
	१९५३-५४	५,५३३	८७०	६.४
बिहार	१९५१-५२	५,२६९	४५४	११.६
	१९५२-५३	६,५२७	५७७	११.३
	१९५३-५४	६,७२१	७०७	९.५
	१९५५-५६	५,७५९	६१३	९.४

१	२	३	४	५
बम्बई	१९५१-५२	५,८०२	५५०	१०.५
	१९५२-५३	१०,८६१	६४५	१६.८
	१९५३-५४	९,३२५	८१७	११.४
	१९५४-५५	८,८६४	८२२	१०.८
	१९५५-५६	८,७७६	७८६	११.२
	१९५६-५७	८,३९९	८१२	१०.३
केरल	१९५१-५२	४,५५०	८०७	५.६
	१९५२-५३	४,६३४	७४०	६.३
	१९५३-५४	५,२६६	९२३	५.७
	१९५४-५५	६,३०८	९८६	६.४
	१९५५-५६	७,०२१	१,०२५	६.८
मध्य प्रदेश	१९५२-५३	७,९४०	६०३	१३.२
	१९५३-५४	६,४४५	६२३	१०.३
	१९५४-५५	७,११०	५८३	१२.२
	१९५६-५७	६,०१०	७५८	७.९
मद्रास	१९५१-५२	८,०४७	८९९	९.०
	१९५२-५३	७,५०४	८९१	८.४
	१९५३-५४	५,४७१	१,१२२	४.९
	१९५४-५५	५,४०४	१,१४९	४.७
	१९५५-५६	५,८६९	१,२०९	४.९
	१९५६-५७	६,१६७	१,२५५	४.९

१	२	३	४	५
मैसूर	१९५१-५२	७,५४६	९४३	८.०
	१९५२-५३	५,८४४	८९५	६.५
	१९५३-५४	७,४६०	१,०३२	७.२
	१९५४-५५	६,९३९	९५१	७.३
	१९५५-५६	८,२२८	१,१८७	६.९
उड़ीसा	१९५१-५२	६,९२५	५०६	१३.७
	१९५२-५३	७,३३६	५२०	१४.१
	१९५३-५४	५,३४८	५२७	१०.१
	१९५४-५५	५,९२४	५१३	११.५
पंजाब	१९५१-५२	४,३७४	७१७	६.१
	१९५२-५३	४,१९९	८५२	४.९
	१९५३-५४	५,५१३	८८५	६.२
	१९५४-५५	५,४८२	८२५	६.६
	१९५५-५६	४,५०५	६९८	६.५
राजस्थान	१९५२-५३	३,६४८	५७०	६.४
	१९५३-५४	३,८९९	१,०६०	३.७
उत्तर प्रदेश	१९५१-५२	४,५३४	३९६	११.५
	१९५२-५३	३,१६६	४६९	६.८
	१९५३-५४	३,१७५	५५८	५.७
	१९५४-५५	३,९८४	५३१	७.५
	१९५५-५६	४,३०७	६१४	७.०
	१९५६-५७	५,१९४	५३७	९.७

१	२	३	४	५
पश्चिम बंगाल	१९५२-५३	४,९३७	८६१	५.७
	१९५३-५४	८,८५७	१,०९९	८.१
	१९५४-५५	६,७१४	८६५	७.८
	१९५५-५६	४,७७८	९२०	५.२
हिमाचल प्रदेश	१९५१-५२	३,०१७	४३२	७.०
	१९५२-५३	३,१९१	४४८	७.१
मणिपुर	१९५३-५४	३,२३९	८४०	३.९
	१९५५-५६	३,७४६	१,१८१	३.२
त्रिपुरा	१९५१-५२	२,३४९	७८८	३.०
	१९५२-५३	२,३२८	७६१	३.१
	१९५३-५४	३,०७२	७७९	३.९
	१९५४-५५	३,३३२	८१५	४.१

गेहूं

१	२	३	४	५
आन्ध्र प्रदेश	१९५१-५२	२,४१२	२८४	८.५
बिहार	१९५१-५२	३,७६८	३७७	१०.०
	१९५२-५३	६,०१५	५५३	१०.९
	१९५३-५४	५,६३६	५६६	९.९
	१९५५-५६	५,३५६	५४५	९.८
बम्बई	१९५१-५२	४,८८०	४१२	११.८
	१९५२-५३	२,८८४	३९६	७.३
	१९५४-५५	४,९४४	४९७	९.९
	१९५५-५६	५,५००	४६१	११.९
	१९५६-५७	४,९८५	३७७	१३.२

१	२	३	४	५
मध्य प्रदेश	१९५१-५२	४,४६२	३४९	१२.८
	१९५२-५३	७,२५७	४७५	१५.३
	१९५३-५४	५,३१७	४८४	११.०
	१९५४-५५	४,४०८	५५६	७.९
उड़ीसा	१९५२-५३	२,४०४	५६०	४.३
	१९५३-५४	४,३२६	५६०	७.७
	१९५४-५५	४,९४४	५१७	९.६
पंजाब	१९५१-५२	६,२५२	८९६	७.०
	१९५२-५३	६,३७२	९८७	६.५
	१९५३-५४	५,९३३	९४९	६.३
	१९५४-५५	६,८८२	९८२	७.०
	१९५५-५६	६,४२५	८३०	७.७
	१९५६-५७	३,७३३	९२१	४.१
राजस्थान	१९५१-५२	४,३३०	५८९	७.४
	१९५२-५३	६,३७४	९६२	६.६
उत्तर प्रदेश	१९५१-५२	४,४६०	६८३	६.५
	१९५२-५३	५,०५३	७५८	६.७
	१९५३-५४	३,५९१	७५४	४.८
	१९५४-५५	४,०३१	७९१	५.१
	१९५५-५६	४,१२०	६८४	६.०
	१९५६-५७	४,११६	६९९	५.९
पश्चिम बंगाल	१९५१-५२	४,६३९	६८७	६.८
	१९५२-५३	३,८३२	७२७	५.३
	१९५३-५४	४,२६८	६३५	६.७

१	२	३	४	५
	१९५४-५५	४,२११	६८६	६.१
	१९५५-५६	४,७३०	६०९	७.८
दिल्ली	१९५२-५३	५,१३४	१,०२२	५.०
हिमाचल प्रदेश	१९५२-५३	४,४२९	२९७	१४.९

नोट :—जिन सालों में कोई फसल प्रतियोगिता नहीं हुई थी उनका इसमें जिक्र नहीं है ।

(२) किसान को उचित समय पर उचित सहायता मिलनी चाहिए

सामुदायिक विकास आन्दोलन का लक्ष्य गांवों में फैले हुए साढ़े छः करोड़ परिवारों में एक ऐसी भावना पैदा करना है जिससे वे अपने पुराने दृष्टिकोण को बदल सकें। साथ ही उनमें नई बातें सीखने और जीवन के नए मार्गों पर चलने के लिए नया जोश पैदा करना है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि इस आन्दोलन का लक्ष्य यह है कि इन परिवारों का जीवन-स्तर ऊंचा उठाने के लिए और एक नए जीवन का सूत्रपात करने के लिए उनकी सहायता की जाए। जब देश में ८० प्रतिशत लोग गांवों में रह रहे हों और ६६ प्रतिशत लोग अपनी जीविका के लिए कृषि पर निर्भर हों, तब देश के सामने यह सबसे बड़ा काम हो जाता है।

यह आन्दोलन यह मान कर चलता है कि ग्रामीण जीवन के सभी क्षेत्र एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं और इसलिए उनको बेहतर बनाने के लिए इकट्ठे प्रयत्न करने चाहिएं। अब तक सरकार जो काम करती रही, वह बहुत बिखरा हुआ था। किसी एक समस्या को लेकर उसे हल करने की कोशिश की जाती थी। इसमें यह भी ध्यान रखा जाता था कि जो काम भी किया जाए वह बिल्कुल प्रजातांत्रिक तरीके से सम्पन्न हो। कोई प्रगति या उन्नति की बात, चाहे वह कितनी ही आवश्यक क्यों न हो, उसे ज़बर्दस्ती गांव वालों के ऊपर नहीं लादा जाता है। यही कोशिश की जाती है कि ग्रामीण लोगों को समझा-बुझा कर किसी काम को करने के लिए मना लिया जाए। यही कारण है कि विस्तार सेवाओं और शिक्षा प्रसार के कार्यक्रम को महत्व दिया जा रहा है। कार्यक्रम के अन्तर्गत सरकार प्राविधिक सलाह-मशविरा और धन सम्बन्धी सहायता देने के लिए तैयार रहती है। सरकार का उद्देश्य यह रहता है

कि गांवों में जितने भी कार्यक्रम चलाए जाएं, उनमें लोगों का अधिक-से-अधिक योग मिल सके। यह कहा जा सकता है कि आज के कार्यक्रम जनता और सरकार के सामूहिक प्रयास हैं, आगे चल कर यही कार्यक्रम बहुत हद तक जन-आन्दोलन का रूप ले लेंगे ।

वैज्ञानिक ढंग से खेती

इस आन्दोलन का उद्देश्य समस्त ग्रामीण जीवन तक एक साथ पहुंच करना है, साथ ही यह इस बात पर भी जोर देता है कि प्रत्येक परिवार खेती में वैज्ञानिक तरीकों और नए साधनों को उपयोग में लाए। गांव वालों की आर्थिक दशा न सुधरने का एक बड़ा कारण यह है कि खेती से उनको बहुत कम आमदनी होती है । जब तक इस कमी को दूर न किया जाए, दूसरी और कोई भी प्रगति कठिन है । इसलिए इस कार्यक्रम के अन्तर्गत ज्यादा कोशिश खेती का उत्पादन बढ़ाने के लिए की जाएगी । वैज्ञानिक ढंग से खेती करने से लोगों को पूर्ण रोज़गार मिल सकेगा और किसान को ज्यादा आमदनी हो सकेगी। साथ ही साथ गांवों के कारीगरों को ज्यादा काम मिलेगा और उनकी भी आमदनी बढ़ेगी और जीवन-स्तर उन्नत हो सकेगा । कृषि और गांवों के दूसरे आर्थिक कार्यक्रमों के विकास के काम में इस कार्यक्रम के अन्तर्गत सहकारी समितियों और सहकारी ढंग से काम करने के तरीकों को बहुत महत्व दिया जाएगा । यह सभी जानते हैं कि मिल कर काम करने से काफी आर्थिक लाभ होते हैं। जो काम एक किसान या एक कारीगर अलग-अलग काम करके पूरा नहीं कर सकता, वह सामूहिक रूप में काम करने पर आसानी से पूरा किया जा सकता है। लेकिन, सहकारी नियमों से केवल आर्थिक लाभ ही नहीं होता, इनका सामाजिक और नैतिक लाभ भी होता है। जीवन-स्तर को ऊंचा उठाने के लिए साथ-साथ काम करते समय सहकारी संस्थाओं के सदस्यों में भाईचारे की भावना पैदा हो जाती है और उन्हें एक-दूसरे के कल्याण का बहुत ख्याल होने लगता है। हमारे गांवों में सामाजिक एकता और एकरूपता पैदा करने के लिए सहकारी ढंग पर काम करने की बहुत ज़रूरत है ।

आज जो जातिभेद पैदा हो जाने के कारण झगड़े खड़े हो जाते हैं, वे उस समय नहीं होंगे जब और अधिक लोगों को रोज़गार मिल सकेगा और वैज्ञानिक ढंग पर कृषि करने और सहायक धंधे अपनाने में वे अपने को खूब मशगूल रखेंगे।

जनता का उत्तरदायित्व

सबसे बड़ा काम इस वक्त यह है कि लोगों को नए तरीकों की उपयोगिता का विश्वास दिलाया जाए और उनको ठीक समय पर ठीक मात्रा में और ठीक प्रकार के साधन उपलब्ध कराए जाएं। ये साधन प्राविधिक सलाह-मशविरा, बेहतर बीज, रासायनिक खाद और तकावी आदि के रूप में होंगे। अगर बुराई और बदनामी से बचना है तो कार्यक्रम के इन दोनों भागों को आपस में हमेशा मिलाए रखना होगा।

यह स्पष्ट है कि शुरू-शुरू में यह सरकार का ही काम था कि वह इस आन्दोलन को चलाए। लेकिन ग्रामीण जीवन को बेहतर बनाने के लिए प्रेरक शक्ति गांव वालों से ही हासिल की जानी चाहिए, क्योंकि तभी उन साधनों का इस्तेमाल किया जा सकता है जो अभी तक बेकार पड़े हैं और तभी निरन्तर विकास सम्भव हो सकता है, और तभी यह आन्दोलन भी एक शक्तिशाली आन्दोलन कहला सकेगा।

हमें एक बात याद रखनी चाहिए। लोग उसी हद तक इस आन्दोलन में भाग लेंगे जिस हद तक उनको अपना काम सम्भालने के लिए ज़िम्मेदारी, शक्ति और आवश्यक साधन प्राप्त हो सकेंगे। सामुदायिक विकास कार्यक्रम का ध्येय यह है कि जितनी जल्दी हो सके, योजनाओं को पूरा करने और स्थानीय विकास कार्यक्रम को लागू करने का काम पूर्णतया जनता पर ही छोड़ दिया जाए। इसके लिए पहली आवश्यकता यह है कि गांव से लेकर ऊपर तक प्रत्येक काम के लिए स्थानीय स्वायत्त शासन समितियां बनाई जाएं। दूसरी बात यह कि कल्याणकारी राज्य की आवश्यकताओं के अनुसार प्रशासनिक ढांचे को बदला जाए। इसके लिए यह भी ज़रूरी है कि अपने नए कार्य क्षेत्र को देखते हुए प्रशासन के दृष्टिकोण में अन्तर लाया जाए।

गांवों के लोग एक-दूसरे से परम्परागत रूप से बंधे हुए से होते हैं। इसलिए सामुदायिक विकास के कार्यक्रम की पहली इकाई गांव ही हो सकते हैं। दृष्टिकोण यह है कि एक ऐसा ग्रामीण-जीवन तैयार हो जाए जो आधुनिक सभ्यता की सभी आवश्यकताओं को पूरा कर सके। इसके लिए दो मुख्य संस्थाएं, पंचायत और बहूद्देश्यीय सहकारी संस्थाएं हैं। पंचायतें प्रशासन के लिए और विकास योजनाओं को तैयार करने के लिए ज़िम्मेदार होंगी। बहूद्देश्यीय सहकारी संस्थाएं आर्थिक आवश्यकताओं को सन्तोषजनक रूप से पूरा करने के लिए ज़िम्मेदार होंगी। इसलिए दोनों ही प्रकार की संस्थाओं के विस्तार और विकास के लिए बहुत ज़ोर दिया जा रहा है। इसी प्रकार खण्ड और ज़िला स्तर पर स्वायत्त शासन संस्थाओं के निर्माण पर ज़ोर दिया जा रहा है। खण्ड संगठन जो एक निर्वाचित और स्वशासित संस्था है, का यह काम होगा कि वे वह बड़े-बड़े क्षेत्रों, जिनमें कि लगभग १०० गांव शामिल हों, का विकास करें।

उच्च अधिकारियों का काम

यह कार्यक्रम राज्य के प्रशासकों के लिए एक चुनौती है। बड़े-बड़े अधिकारियों और विकास विभाग के कर्मचारियों को कल्याण-कारी राज्य की नई भावना के अनुसार अपने को बदलना होगा। जब निर्णय लेने की शक्ति स्थानीय संस्थाओं को सौंप दी जाएगी तो इन अधिकारियों पर एक और ज़िम्मेदारी लागू होगी। वह यह कि नए लोगों को प्रशिक्षित करें और उनके मार्ग दर्शक, सलाहकार और मित्र का पार्ट अदा करें। विकास के कार्यक्रमों में सबसे बड़ी बात यह है कि उचित समय पर और उचित स्थान पर साधन-सामग्री उपलब्ध कराई जा सके। इसलिए प्रशासकों को अपने काम में बहुत कुशल होना चाहिए। यह बड़ी महत्वपूर्ण बात है।

आवश्यक परिवर्तन हो भी रहे हैं। लगभग सारे देश में ग्राम पंचायतें बना दी गई हैं। राज्यों में पंचायत समितियां, जिनके पास बहुत शक्ति और साधन होंगे, बनाई जा रही हैं। हाल ही के कुछ

सालों में देश में सहकारी संस्थाओं की संख्या भी बहुत बढ़ गई है। प्रशिक्षण पाठ्यक्रम और गोष्ठियों का संगठन किया जा रहा है, ताकि विस्तार अधिकारियों को प्रशिक्षित किया जा सके व प्रशासकों को नई बातें समझाई जा सकें।

स्थानीय नेतृत्व

इस समय यह आन्दोलन देश के कुल गांवों में से आधे गांवों पर लागू हो चुका है। हालांकि बहुत-सी असफलताएं भी देखनी पड़ी हैं, लेकिन फिर भी मैं यह समझता हूं कि इस आन्दोलन के भविष्य में विश्वास रखने के कारण मौजूद हैं। भारत के सभी भागों में ऐसे किसान मिलते हैं जिनके खेतों की उपज दुनिया के सबसे अधिक उपजाऊ खेतों के बराबर है। इसलिए हमें प्रत्येक परिवार को नई साधन-सामग्री अपनाने के लिए सहायता करनी चाहिए और प्रत्येक वर्ष प्रत्येक एकड़ के पीछे उत्पादन में कुछ उन्नति दिखानी चाहिए। इससे बढ़ कर और कोई समाज सेवा नहीं हो सकती। मैं युवक और युवतियों से यह निवेदन करता हूं कि वे अधिक संख्या में आगे आएं और इस महान् कार्य में भाग लें।

सबके लिए उचित रोज़गार की व्यवस्था

श्यामानन्द मिश्र

योजना उपमंत्री

रोज़गार एक ऐसा विषय है, जिसका योजनाबद्ध विकास में बहुत महत्व है। यदि किसी परिवार के लोगों को बेरोज़गार रहना पड़े या ज़रूरत के मुताबिक काम न मिले तो उस परिवार में दूसरी मुश्किलों के साथ जो एक मनोवैज्ञानिक समस्या पैदा हो जाती है, उसे अक्सर आप सभी अच्छी तरह जानते हैं। इसलिए जनतन्त्र इस तरह की समस्याओं को जितनी अच्छी तरह सुलझा सकेगा, उतना ही मज़बूत होगा।

कुछ अर्थशास्त्रियों की यह राय है कि रोज़गार को योजना का एक मुख्य लक्ष्य नहीं बनाया जा सकता। उनकी राय में तो रोज़गार विकास की देन है। इस राय का तभी अनुकरण किया जा सकता है जब हम यह मान कर चलें कि हमारी आर्थिक विचारधारा पश्चिमी देशों की परम्परा पर ही आधारित होनी चाहिए—उन पश्चिमी देशों की परम्परा पर जिनमें आज की समृद्धि आने के पहले बहुत दिनों से विकास की प्रक्रिया जारी रही है। लेकिन हमारे देश की स्थिति भिन्न है। इसकी जनसंख्या बहुत बड़ी है, यहां से विदेशों में जाकर बसने के अवसर नहीं हैं और लोगों का जीवन-स्तर बहुत नीचा है। इसलिए हमें रोज़गार की समस्या को हमेशा महत्व देना होगा। लेकिन यह नहीं भूलना चाहिए कि हमारे देश में सदियों से चली आ रही बेरोज़गारी और अर्द्धरोज़गारी की जो स्थिति है उसे ठीक करने के लिए कोई आसान या बहुत जल्द कारगर होने वाला रास्ता नहीं है और हमें इसके समाधान के लिए अनेक बड़ी योजनाओं की ज़रूरत पड़ेगी।

छोटे बनाम बड़े उद्योग

हमने छोटे उद्योगों पर जो जोर दिया है हमारे कुछ विचारक उसे ठीक नहीं मानते। वे यह भी कहते हैं कि छोटे और कुटीर-उद्योग धन्धे अर्थ-व्यवस्था को नीचे स्तर पर बांधे रहते हैं। दूसरी ओर कुछ लोग हमारी योजनाओं में भारी उद्योगों को दिए गए महत्व पर आपत्ति करते हैं। उनका तर्क है कि भारी उद्योगों के लिए हमें विदेशी मुद्रा और विदेशी कारीगरों पर बहुत अधिक निर्भर करना ही पड़ता है, और साथ ही उनमें लगाई गई पूंजी से उतने काम पैदा नहीं होते, जितने साधारणतः और तरह से हो सकते हैं। योजना आयोग और सरकार ने इन दोनों विचारधाराओं के बीच का मार्ग अपनाया है। अगर हम बढ़ती हुई आबादी और उसके साथ काम के लायक लोगों की बढ़ती हुई तादाद के योग्य गतिशील अर्थ-व्यवस्था तैयार करना चाहते हैं, तो मूल उद्योगों का होना बहुत ज़रूरी है। इसके साथ ही बेकारी से परेशान जनता को जल्द राहत पहुंचाने के लिए कुटीर-उद्योगों के रूप में उत्पादन के पिछड़े हुए तरीके को जारी रखना कुछ दिनों के लिए ज़रूरी हो सकता है क्योंकि बिना तात्कालिक लाभ पहुंचाए लोगों को केवल भविष्य के स्वप्न दिखा कर त्याग और मेहनत के लिए तैयार नहीं किया जा सकता। लेकिन इन पिछड़े हुए तरीकों से ऊपर उठने के प्रयास भी बराबर जारी रखने होंगे।

हमारा लक्ष्य क्या है ?

वह कौन-सा लक्ष्य है, जिसे हम प्राप्त करना चाहते हैं। और यदि हमें अपनी आशा के अनुसार सफलता न मिल सकी तो हमारे सामने क्या-क्या मुश्किलें आएंगी ?

हमारे देश में हर साल २० लाख काम करने वाले बढ़ जाते हैं। यदि रोज़गार की वर्तमान स्थिति को सिर्फ बिगड़ने से रोका जाए, तो हमें योजना के समय में कम-से-कम एक करोड़ आदमियों के लिए रोज़गार का प्रबन्ध करना होगा। योजना में हमने खेती के बाहर ८० लाख व्यक्तियों के लिए रोज़गार पैदा करने का लक्ष्य रखा था। वह लक्ष्य रखते समय

यह आशा की गई थी कि खेती के लिए जो बड़ी और छोटी योजनाएं चल रही हैं, उनसे काम बढ़ेगा और बाकी करीब २० लाख व्यक्ति उसमें काम पा जाएंगे। जहां तक उन लोगों का सवाल है, जिन्हें पूरे समय काम नहीं मिलता है, यह आशा की गई कि छोटी सिंचाई योजनाओं, देश में चलने वाली विस्तार सेवाओं, छोटे और घरेलू उद्योग-धंधों और जिस मौसम में किसान के पास काम नहीं होता, उन दिनों कुछ विकास कार्य शुरू करने से, इन लोगों को अधिक काम मिलेगा और उन्हें राहत मिलेगी। दूसरी योजना में पूरा रोज़गार कितने लोगों को मिल पाएगा, इसके बारे में तो कुछ हिसाब लगाया गया, लेकिन जिन लोगों के पास कम काम है, उन्हें कितना अधिक काम मिलेगा, इसका हिसाब नहीं लगाया गया।

विभिन्न क्षेत्रों में योजना के द्वारा रोज़गार बढ़ने का अनुमान यह मान कर लगाया गया था कि चीज़ों के भाव बहुत कुछ स्थिर रहेंगे और योजना के हिसाब से धन व्यय किया जाएगा।

लेकिन आज हम देखते हैं कि पहले ढाई साल में दिन-प्रति-दिन के व्यवहार में आने वाली वस्तुओं के भाव बहुत बढ़ गए हैं, जिसकी वजह से लक्ष्यों को कम करने की मजबूरी हुई। नए हिसाब के अनुसार केवल भाव बढ़ने से कृषि के बाहर के क्षेत्रों में रोजगार के लक्ष्य में दस लाख की कमी हुई। इसके साथ ही एक-दूसरी कठिनाई हमारे सामने आई और वह थी देश में आन्तरिक साधनों की कमी। हमें धन की दृष्टि से भी योजना को छोटा करना पड़ा।

कुछ खास-खास महत्व की ऐसी योजनाओं को, जिन पर काफी धन व्यय हो चुका था, जारी रखना था, लेकिन दूसरी कुछ योजनाएं पिछड़ गईं। आर्थिक साधनों की कमी को देखते हुए राष्ट्रीय विकास समिति की पिछली बैठक में जो निर्णय किया गया, उसके अनुसार योजना का जो रूप हमारे सामने है, उसके दो भाग हैं। पहले भाग पर ४,५०० करोड़ रुपए व्यय करने की बात है और दूसरे भाग पर ३०० करोड़ रुपए व्यय करने की।

रोजगार बढ़ा, पर जनसंख्या भी बढ़ी

कुछ लोग यह पूछ सकते हैं कि पौंड-पावने से इतना अधिक धन निकाल लेने, विदेशों से इतनी सहायता मिलने तथा घाटे की अर्थ-व्यवस्था के बावजूद रोज़गार की स्थिति में कोई खास सुधार नज़र क्यों नहीं आता ? तथ्य यह है कि हम जितने लोगों के लिए रोज़गार पैदा करते हैं, उससे कहीं ज्यादा काम करने वालों की फौज बढ़ती जा रही है। ऐसा नहीं है कि रोज़गार नहीं बढ़ा। कृषि के बाहर क्षेत्रों में पिछले ढाई वर्षों में दस लाख प्रति वर्ष के हिसाब से रोज़गार बढ़ा है । लेकिन इसमें कोई शक नहीं कि हमारी आवश्यकता के मुकाबले में योजना अपर्याप्त है। सन् १९५६ में काम दिलाऊ केन्द्रों में नाम दर्ज कराने वालों की संख्या साढ़े-सात लाख थी। लेकिन दो वर्ष में यह बढ़ कर साढ़े-नौ लाख हो गई ।

शिक्षितों की बेकारी

देश में बेरोज़गारी की चोट सबसे ज़्यादा शिक्षित व्यक्तियों पर पड़ी है। इसलिए शिक्षित बेकारों को काम में लगाने के लिए जो विशेष स्कीमें हमने शुरू की हैं उनकी चर्चा करना उचित होगा। यह तो मानना पड़ेगा कि इस सम्बन्ध में जो स्कीमें शुरू की गई हैं, वे अभी अपने प्रारम्भिक रूप में ही हैं। तीन राज्यों यें वर्क एण्ड ओरिएन्टेशन कैम्प यानी एक प्रकार के प्रशिक्षण केन्द्र खोले गए। इनमें प्रशिक्षण पाने वाले कुछ लोगों को रोज़गार मिल गया और दूसरों ने अपने सहकारी संगठन बना लिए। सरकार का विचार है कि पढ़े-लिखे नौजवानों को काम देने के लिए कुछ उत्पादन केन्द्र खोले जाएं, लेकिन विदेशी मुद्रा की कमी के कारण इस दिशा में विशेप प्रगति नहीं हो पाई। अब सरकार इस बात पर विचार कर रही है कि किस प्रकार बिना विदेशी मुद्रा के भी ऐसे उत्पादन केन्द्र खोले जा सकते हैं। यह विचार है कि राज्य सरकारों के सहयोग से ५० मोटर ट्रक देश के विभिन्न भागों को दिए जाएं और सहकारी माल ढुवाई को परीक्षण के तौर पर चलाया ज़ाए। इन स्कीमों की प्रगति से हमें संतोष नहीं, लेकिन स्थिति पर बराबर नजर रखी जा रही है और इन स्कीमों को ज्यादा कारगर बनाने के लिए कारंवाई की जाएगी।

भविष्य क्या है ?

स्वभावतः आप जानना चाहेंगे कि भविष्य में क्या संभावनाएं हैं ? दूसरी योजना के पहले दो सालों में रोज़गार की सूरतें जितनी पैदा हो सकीं, उनको देखते हुए यह साफ है कि दूसरी योजना में हमने जो लक्ष्य रखे थे, वे पूरे नहीं हो सकेंगे। ऐसा लगता है कि दूसरी योजना के आरम्भ में बेकारों की जो संख्या थी, तीसरी योजना के आरम्भ में वह संख्या उससे भी अधिक हो जाएगी। इतना ही नहीं तीसरी योजना की अवधि में आबादी बढ़ने के कारण नए रोज़गार खोजने वालों की संख्या भी दूसरी योजना के मुकाबले में ज्यादा रहेगी। इस तरह तीसरी योजना में रोज़गार की स्थिति कुछ ज़्यादा कठिन हो सकती है, लेकिन कुछ आशाप्रद बातें भी हैं। उदाहरण के तौर पर दूसरी योजना में जो पूंजी लगेगी, तीसरी योजना में उसके लाभ शुरू हो जाएंगे और इससे रोज़गार बढ़ेगा। इसके साथ ही जैसे-जैसे समय बीतेगा हमारी संगठन-शक्ति भी बढ़ेगी।

इस बात पर भी विचार आरम्भ हो गया है कि शिक्षा को विशेष उपयोगी और लाभप्रद किस प्रकार बनाया जाए। आशा है तीसरी योजना में इससे लाभ पहुंचेगा।

आर्थिक और सामाजिक संगठन पर मैं अधिक ज़ोर देना चाहता हूं। हम जानते हैं कि आजकल गांवों में कम काम होने की वजह से और खास कर खेती के मौसम के बाद बहुत संख्या में लोग बेकार हो जाते हैं। यदि हर परिवार की इस बेकार जाने वाली मानव-शक्ति को सहकारी ढंग पर काम में लगाया जाए तो यह एक वरदान सिद्ध हो सकती है। हम अन्य लोगों को सहकारिता के आधार पर कुएं, नाला आदि बनाने तथा भूमि विकास जैसे स्थानीय कार्यों को करने को प्रेरित कर सकते हैं। इससे नई पूंजी, नए साधन उपलब्ध होंगे और गांवों की शक्ल बदल जाएगी।

सहकारी खेती के आर्थिक पहलू और उससे लाभ

श्रीमन्नारायण

सदस्य, योजना आयोग

सहकारी खेती का विचार कोई नया नहीं है। किसानों को सहकारी खेती सम्बन्धी संस्थाएं बनाने के लिए प्रोत्साहन देने और उनकी सहायता करने के सम्बन्ध में पहली पंचवर्षीय योजना में कई प्रस्ताव थे। उसके अन्तर्गत राज्य सरकारों को सहकारी खेती के विस्तृत कार्यक्रम बनाने के लिए कहा गया था, लेकिन दुर्भाग्यवश इस दिशा में बहुत कम काम किया गया है।

दूसरी योजना में सहकारिता का उल्लेख

दूसरी पंचवर्षीय योजना में भी यह कहा गया था कि सभी लोग इस सम्बन्ध में एकमत हैं कि सहकारी खेती का जल्दी से जल्दी विकास किया जाए। "दूसरी पंचवर्षीय योजना में कुछ ऐसे आवश्यक कार्य करने होंगे जिससे सहकारी खेती के विकास के लिए बुनियाद तैयार हो जाए और अगले दस साल या उससे कुछ ज्यादा में खेती योग्य भूमि के काफी बड़े हिस्से में सहकारी आधार पर खेती की जा सके।" सहकारी खेती सम्बन्धी लक्ष्य राज्य सरकारों से बात करने के बाद ही निश्चित किए जाने थे, परन्तु किसी न किसी कारण से राज्य सरकारों ने इस सम्बन्ध में सही ढंग से प्रयोग नहीं किए। सहकारी खेती की दिशा में प्रगति की रफ्तार धीमी होने का एक कारण यह भी है कि संयुक्त सहकारी खेती

के तरीकों की व्यावहारिकता के सम्बन्ध में सन्देह प्रकट किए जा रहे हैं और इस सम्बन्ध में सब एकमत नहीं हैं।

गड़बड़ी का कारण

दरअसल सहकारी खेती के फायदों और नुक्सानों के सम्बन्ध में ज्यादा गलतफहमी इसलिए पैदा होती है कि सहकारी खेती की परिभाषा के सम्बन्ध में कुछ अनिश्चितता है। मोटे तौर पर, तीन प्रकार की खेती को हम सहकारी खेती कह सकते हैं। सबसे पहले खेती का वह तरीका है जिसे हम 'सहकारी संयुक्त खेती' कहते हैं। इस प्रकार की खेती के अन्तर्गत इकट्ठी की हुई ज़मीन की मिल्कियत वैसी की वैसी बनी रहती है और ज़मीन से होने वाली आमदनी बांटते समय अन्य बातों के अतिरिक्त ज़मीन की मिल्कियत और कीमत का भी ख्याल रखा जाता है। इस प्रकार की सहकारिता में, सदस्य अगर चाहें तो, कुछ शर्तें पूरी करने पर संस्था से नाता तोड़ सकते हैं।

दूसरे, 'सहकारी सामूहिक खेती संस्थाएं' हैं। इनमें ज़मीन के अलावा सदस्यों के दूसरे सभी साधन भी इकट्ठे कर लिए जाते हैं और ज़मीन की मिल्कियत भी खतम हो जाती है, यानी ज़मीन सहकारी संस्था की हो जाती है और खेती से होने वाली आमदनी का बंटवारा सदस्यों द्वारा किए गए काम के आधार पर होता है। इस व्यवस्था को रूस या दूसरे साम्यवादी देशों की 'कलखोज़' पद्धति जैसा नहीं समझ लेना चाहिए क्योंकि कलखोज़ में न तो सदस्यता स्वेच्छा से होती है, न ही अपने सम्बन्ध में आप निर्णय करने और अपना प्रशासन आप चलाने के प्रजातन्त्री सिद्धान्तों का पालन ही होता है।

तीसरे, खेती सम्बन्धी विभिन्न प्रक्रियाओं, जैसे खर-पतवार हटाना, फसल काटना, अनाज फटकना, खाद डालना, सिंचाई और बिक्री व्यवस्था आदि, में विभिन्न प्रकार के सहयोग की व्यवस्था होती है। खेती की प्रक्रियाओं में इस प्रकार की आपसी सहायता की व्यवस्था सहकारी सेवाओं के माध्यम से की जाती है। सुप्रसिद्ध जर्मन सहकारिता विशेषज्ञ

डा० आटो शिलर ने इस प्रकार की सहकारी व्यवस्था को 'सहकारी ढंग से की जाने वाली व्यक्तिगत खेती' कहा है।

कोई जबर्दस्ती या मजबूरी न होगी

इस प्रकार भारत में तीनों तरह की सहकारी खेती के सम्बन्ध में तजर्बा करने की काफी गुंजाइश है। इस प्रकार के तजर्बों में किसी प्रकार का संकोच नहीं बरता जाना चाहिए और स्थानीय हालात के मुताबिक एक साथ कई तरह की सहकारी खेती को व्यक्तियों द्वारा वांछित आधार पर पनपने का मौका दिया जाना चाहिए। दूसरी पंचवर्षीय योजना में यह बात स्पष्ट कर दी गई है कि "विकास कार्यक्रम की स्थिति में सहकारी खेती के लिए ज़मीन इकट्ठी की जाए और सहकारी इकाइयों द्वारा उस पर खेती करने के तरीकों के सम्बन्ध में कोई सुनिश्चित पाबन्दी न लगा कर स्थिति के अनुसार काम किया जाए।" एक ही स्थान पर कई तरीकों के सम्बन्ध में तजर्बे किए जा सकते हैं और विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न प्रकार के तरीकों के योग से ज़्यादा-से-ज़्यादा लाभ उठाया जा सकता है। मिसाल के तौर पर, खेत किसी एक विशेष काम के लिए या सब कामों के लिए या केवल कुछ कामों के लिए एक ही इकाई के रूप में काम करे। परिवारों के कुछ समूह सहकारी खेती के अन्तर्गत कुछ छोटी इकाइयों के रूप में रहें या जैसा कि सहकारिता के विकास में पहले-पहल होना सम्भव है, पारिवारिक जोत की व्यवस्था हो और उनकी सहायता कुछ विशेष कामों के लिए सहकारिता अपना कर की जाए। इस सम्बन्ध में दूसरी पंचवर्षीय योजना में दी गई कुछ बातें बता देनी फायदेमन्द होगा। "विभिन्न परिस्थितियों में सहकारी खेती और दूसरे इसी प्रकार के काम कर काफी तजर्बे हासिल करने हैं। इस सम्बन्ध में विस्तृत ब्यौरों में जाते हुए भी इस बात का ख्याल रखना चाहिए कि हम यह सब तजर्बों के लिए कर रहे हैं। कोशिश यह होनी चाहिए कि ढंग से अध्ययन करके और यह समझ कर कि समस्या का सबसे अच्छा हल यह है, उसका ज़्यादा-से-ज़्यादा प्रचार किया जाए ताकि किसान अपनी परिस्थितियों को दृष्टि में रखते हुए उसको खुशी से अपना लें।"

प्रधानमन्त्री ने अपने एक भाषण में इस बात को बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है कि सहकारी खेती और सामूहिक खेती का फर्क समझ लेना चाहिए और सरकार का बिल्कुल यह उद्देश्य नहीं है कि भारतीय किसानों पर संयुक्त सहकारी खेती जबर्दस्ती लादी जाए। यह कार्य शुरू करने के लिए देश भर में काफी व्यापक रूप में सहकारी सेवाओं की व्यवस्था करने की जरूरत है। भारत की कृषि सम्बन्धी परिस्थितियों में सुधार करने में 'सहकारी सेवाओं' के उपयोग के सम्बन्ध में कोई दो मत नहीं हो सकते। जहां कहीं ये सहकारी सेवाएं खुद-ब-खुद संयुक्त सहकारी खेत का रूप धारण कर लें, वहां किसानों को इस सम्बन्ध में तजर्बा करने के लिए आवश्यक सभी सुविधाएं प्रदान की जाएं। यह बात समझ लेनी चाहिए कि यह ज़रूरी नहीं है कि संयुक्त सहकारी खेत बहुत बड़े-बड़े हों। रूस के सामूहिक खेत तो १०, २०, ३० और कहीं-कहीं तो ४० हज़ार एकड़ तक के हैं। हमारे देश में तो, मेरे विचार में, यही काफी होगा कि २५० या १०० परिवार अपनी ज़मीन इकट्ठी कर लें और लगभग एक परिवार के रूप में संयुक्त रूप से खेती करें। संयुक्त खेती की कामयाबी के लिए यह ज़रूरी है कि जो परिवार उसमें शामिल हों, उनमें आपसी प्रेम और एकता की भावना हो। इसलिए यह स्पष्ट ही है कि इस प्रकार की संयुक्त सहकारी 'खेती ग्रामदान गांवों' में जहाँ कि सब किसान अपनी मर्ज़ी से अपनी ज़मीन का अधिकार ग्राम समुदाय को दे देते हैं, ज़्यादा कामयाब हो सकती है। संयुक्त खेती से उन आबादियों में भी लाभ हो सकता है जो कि हाल ही में फिर से खेती योग्य बनाई गई है।

गांधीजी सहकारी खेती के पक्ष में

यहां यह बात समझ लेने की है कि गांधीजी भी भारत में सहकारी खेती के तरीकों को अपनाने के पूरे-पूरे हक में थे। १५ फरवरी, १९४२ के 'हरिजन' में गांधीजी लिखते हैं— "मेरा पूर्ण विश्वास है कि हमें खेत से तब तक पूरा लाभ नहीं हो सकता जब तक कि हम सहकारी खेती को नहीं अपना लें। क्या यह बात उचित प्रतीत नहीं होती कि यह

ज्यादा अच्छा है कि गांवों के १०० परिवार खेती के लिए अपनी ज़मीन इकट्ठी कर लें और फिर अपनी आमदनी को आपस में बांटें, बजाय इसके कि जमीन अलग-अलग १०० टुकड़ों में बंटी हुई हो।"

सहकारिता के सम्बन्ध में गांधीजी का यह विचार था कि ज़मीन के मालिकों की जमीन भी सहकारी हो और उस पर खेती भी सहकारी ढंग से की जाए। "ज़मीन के मालिक सहकारी ढंग से काम करें और पूंजी, औज़ार, पशु, बीज आदि भी सहकारी रूप में रखें।" गांधीजी का यह कहना था कि उनके द्वारा सुझाई गई सहकारी खेती की व्यवस्था में "ज़मीन की सूरत ही बदल जाएगी और किसानों की गरीबी और बेकारी दूर हो जाएगी।" इस सम्बन्ध में उन्होंने आगे कहा— "यह तभी मुमकिन हो सकता है जबकि लोग एक-दूसरे के दोस्त बन जाएं और एक परिवार के समान रहें।" यहां यह बात समझ लेने की है कि गांधीजी संयुक्त सहकारी खेती के हक में थे, न कि केवल सहकारी सेवाओं की व्यवस्था करने के। इसलिए यह कहा जा सकता है कि प्रधान मन्त्री इस सम्बन्ध में बहुत होशियारी से कदम उठा रहे हैं और उनके प्रस्तावों में कोई ज़बर्दस्ती परिवर्तन के तत्व नहीं हैं।

सहकारी खेती का उद्देश्य यन्त्रीकरण नहीं

यह भी जान लेना चाहिए कि सहकारी खेती का उद्देश्य खेती का यन्त्रीकरण नहीं है। यह सोचना गलत है कि यन्त्रीकृत बड़े-बड़े खेतों में उन छोटे खेतों से, जिनमें भरपूर खेती की जाती है, प्रति एकड़ पैदावार ज़्यादा होती है। दरअसल खेती के प्रति एकड़ पैदावार सम्बन्धी आंकड़ों से पता चलता है कि आम तौर पर छोटे खेतों में जहां खेती भरपूर ढंग से की जाती है, बहुत बड़े-बड़े खेतों से ज्यादा पैदावार होती है। मिसाल के तौर पर, अमेरिका और आस्ट्रेलिया के बड़े-बड़े खेतों में होने वाली पैदावार से जापान के छोटे-छोटे खेतों में दुगुनी और डेन्मार्क और स्विट्ज़रलैण्ड के खेतों में चौगुनी पैदावार होती है। यह ठीक है कि विराट खेतों में प्रति व्यक्ति उत्पादकता बढ़ जाती है, लेकिन प्रति एकड़ नहीं। यह एक ऐसी महत्वपूर्ण बात है कि जिसे भारत

में खेती के विकास में दिलचस्पी रखने वाले सभी लोगों को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए।

ईमानदार और कुशल कर्मचारी चाहिए

भारत में सहकारी खेती को कामयाब बनाने के लिए काफी संख्या में ईमानदार और कुशल कर्मचारी तैयार करने की ज़रूरत है जो किसानों में कुरबानी और सेवा भावना पैदा कर सकें। ऐसे ईमानदार और मेहनती कर्मचारियों के बिना यह डर है कि कहीं सहकारी खेती आर्थिक शोषण का ही रूप न धारण कर ले। लेकिन फिर भी कोई कारण नहीं है कि भारत में सहकारी खेती का जो कार्यक्रम चल रहा है, उसमें कामयाबी न हो। सहकारी सेवाओं के कामयाव होने से संयुक्त सहकारी खेती के लिए परिस्थितियां तैयार हो जाएंगी। यह बात यहां वता देनी होगी कि सहकारी खेती की यह प्रक्रिया उसमें भाग लेने वाले की इच्छा पर आधारित होनी चाहिए और इस सम्बन्ध में किसी किस्म का दबाव या ज़बर्दस्ती न की जाए। भारतीय किसान अक्लमन्द हैं और अपनी बुद्धि का सही इस्तेमाल कर सकते हैं और अगर उन्हें सहकारी खेती के आर्थिक पहलुओं के वारे में ठीक तरह से समझाया जाए तो वे खुद उसे मानने के लिए तैयार हो जाएंगे यह वात निश्चित है।

यह बात खूब अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए कि सहकारी संयुक्त खेती अधिनायकवादी देशों में प्रचलित सामूहिक खेती से सर्वथा भिन्न है। इनमें सवसे पहला अन्तर तो यह है कि सहकारी खेती की सदस्यता भाग लेने वाले की इच्छा पर निर्भर होती है जवकि सामूहिक खेती में सदस्यता अनिवार्य है यद्यपि कागज़ों में वह लोकतांत्रिक नजर आती है। दूसरे, जैसा कि बताया गया सहकारी खेत, जैसा कि भारतीय योजना के अन्तर्गत व्यवस्था है, ५० एकड़ से १०० या २०० एकड़ तक होंगे जवकि रूस और दूसरे साम्यवादी देशों में सामूहिक खेत ५,००० एकड़ से लेकर ४०,००० और ५०,००० एकड़ तक हैं। स्वाभाविक ही, इतने वड़े-वड़े सामूहिक खेतों में किसान की स्थिति एक साधारण मज़दूर की-सी हो जाती है और वह वड़ी मशीन के एक पुर्ज़े के समान ही पिसता

रहता है। तीसरे, सामूहिक खेतों में बहुत बड़े-बड़े यन्त्रों का प्रयोग आवश्यक हो जाता है जबकि भारत के सहकारी खेतों में बहुत यन्त्रीकरण नहीं करना पड़ेगा। हमारे देश में आबादी का घनत्व बहुत अधिक है, इसलिए यहां विस्तृत और यन्त्रीकृत खेती की बजाय भरपूर खेती करने की जरूरत है।

लाभ का होना आवश्यक

यह बात भी स्पष्ट है कि भारत में किसान सहकारी खेती तभी अपनाएंगे, जबकि उन्हें उसे अपनाने में कुछ खास फायदे नजर आएंगे। सहकारी संयुक्त खेती के इस कार्यक्रम के कम-से-कम दस आर्थिक फायदे हैं :—

(१) सहकारी प्रयास के अन्तर्गत पशुओं और मजदूरों को एक जायज हद तक काम करना पड़ेगा।

(२) खेती में सुधार करने, विशेषकर सिंचाई और उन्नत बीजों की व्यवस्था करने के लिए यथेष्ट धन की व्यवस्था हो सकेगी क्योंकि सहकारी खेती में सभी उपलब्ध साधनों को इकट्ठा किया जा सकेगा।

(३) किसान खेती की नई-नई वैज्ञानिक तकनीकों, जैसे जापानी ढंग से धान की खेती, उन्नत और अच्छे बीज, हरी और कमपोस्ट खाद, कीटाणुनाशक दवाओं आदि का पूरा-पूरा लाभ उठा सकेंगे।

(४) खेती की उपज को सहकारी संस्थाओं के माध्यम से बेचने की व्यवस्था हो जाने पर बिचवैयों द्वारा किया जाने वाला आर्थिक शोषण खत्म किया जा सकेगा।

(५) गांवों में सहकारी योजनाओं के द्वारा स्थानीय और सामुदायिक नेतृत्व उत्पन्न किया जा सकेगा।

(६) ऊंचे दर्जे की अर्थ-व्यवस्था हो जाने से गांवों के बहुत से पढ़े-लिखे नौजवान वहीं खपाए जा सकेंगे और उन्हें शहरों की ओर नहीं दौड़ना पड़ेगा।

(७) छोटे और गरीब किसानों को जिन्हें आज कोई भी कर्ज देने को तैयार नहीं होता, सहकारी खेती के सदस्य होने पर उचित कर्ज और दूसरी सुविधाएं मिल सकेंगी।

(८) सहकारी खेती के द्वारा ग्राम अर्थ-व्यवस्था का बहुमुखी विकास हो सकेगा क्योंकि इसके अन्तर्गत खेती के साथ-साथ ग्रामोद्योग और दूसरे छोटे-छोटे उद्योग खोले जा सकेंगे।

(९) सरकार भी खेती सम्बन्धी सामान के वितरण और किसानों को तकनीकी शिक्षा देने का इन्तजाम पहले से अच्छे तरह कर सकेगी क्योंकि बहुत से किसानों को अलग-अलग सुविधा देने की बजाय कुछ थोड़ी-सी सहकारी संस्थाओं को सुविधा देना ज्यादा आसान होगा। खेती सम्बन्धी जो आंकड़े इकट्ठे किए जाते हैं, सहकारी खेती की व्यवस्था हो जाने पर वे भी पहले की अपेक्षा अधिक विश्वसनीय और प्रामाणिक होंगे।

(१०) सहकारी खेती के माध्यम से खेती की जो बेहतर योजना बनाई जाएंगी, उसके अन्तर्गत गांवों के आदमियों और औरतों को सामाजिक और सांस्कृतिक कार्यक्रमों में भाग लेने के लिए ज्यादा समय मिल सकेगा।

सहकारी खेती के ये दसों लाभ भारतीय किसानों को बहुत अच्छी तरह और होशियारी से समझा देने चाहिएं ताकि वे स्वेच्छा से सहकारी संस्थाओं के सदस्य बनने के लिए तैयार हो जाएं।

सहकारी संस्था छोड़ना सम्भव

सहकारी खेती के कुछ आलोचकों का यह कहना है कि किसान एक बार सहकारी खेती का सदस्य बनने के बाद कभी भी उससे बाहर नहीं जा सकता, बिल्कुल गलत है। हां, यह बात जरूर है कि एक बार जब किसान ऐसी सहकारी संस्था में शामिल होता है, तो उसे कुछ अर्से के लिए उसको आजमा कर जरूर देखना चाहिए। लेकिन अगर कुछ सालों

के बाद दुर्भाग्यवश उसे सहकारी संस्था का सदस्य रहना हानिकारक लगे, तो वह निम्न शर्तों पर संस्था को छोड़ सकता है :

(१) वह उचित समय पर यानी कम-से-कम एक साल पहले संस्था को अपने इरादे की सूचना दे।

(२) सब प्रकार के कर्ज और दूसरी जिम्मेदारियों का भुगतान करे।

(३) उसकी जमीन को सुधार कर खेती योग्य बनाने पर सहकारी संस्था ने जो खर्च किया है, वह उसका मुआवजा अदा करे।

उपर्युक्त शर्तें पूरी करने पर किसान सहकारी संस्था को छोड़ सकता है। संस्था छोड़ने पर उसे या तो उसकी अपनी जमीन या उसी के बराबर कीमत का कोई और टुकड़ा दे दिया जाएगा। यह बात उन शर्तों पर निर्भर करेंगी जो किसान के साथ संस्था में दाखिल होते समय तय की गई थीं। संयुक्त खेती का कोई निश्चित रूप नहीं होना चाहिए। स्थानीय परिस्थितियों और सहकारी संस्था में शामिल होने वाले किसानों की इच्छा को ध्यान में रखते हुए अनेकों प्रकार के सहकारी खेतों का संगठन किया जा सकता है।

झूठी संस्थाएं बन्द की जाएं

और जैसा कि प्रधान मन्त्री ने बार-बार दोहराया है, हमें ध्यान इस ओर देना चाहिए कि अगले दो या तीन सालों में देश भर में सहकारी सेवाओं की व्यवस्था हो जाए। ऐसी आशा की जाती है कि धीरे-धीरे किसानों को खेती के क्षेत्र में सहकारिता से होने वाले लाभों का व्यावहारिक ज्ञान हो जाएगा और वे अपनी इच्छा से सहकारी संस्था के सदस्य बनने लगेंगे। देश में सहकारी खेती का प्रचार करते हुए सामाजिक और राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं को किसी प्रकार के दबाव से काम नहीं लेना चाहिए। सहकारी खेती के सम्बन्ध में खास ध्यान इस बात का रखना चाहिए कि खेत बहुत बढ़िया किस्म के हों। उनकी संख्या या उनके सदस्यों की संख्या की ओर ही ध्यान नहीं देना चाहिए। ऐसी सहकारी संस्थाओं को जो भूमि-सुधार के कानूनों से बचने या सरकार से

वित्तीय सहायता प्राप्त करने के लिए ही सहकारी रूप धारण कर लेती हैं, पूरे तरीके से रोकना चाहिए। उन वर्तमान सहकारी खेतों को जो कामयाबी से कार्य नहीं कर रहे हैं, जल्दी-से-जल्दी खत्म कर देना चाहिए।

मुरादाबाद का सुन्दर उदाहरण

अभी कुछ दिन हुए मैंने उत्तर प्रदेश के मुरादाबाद ज़िले के धनौरा गांव के भरपूर विकास खण्ड का दौरा किया। यह खण्ड खादी और ग्रामोद्योग आयोग की देख-रेख में कार्य कर रहा है। उन्होंने यहां बिना किसी सरकारी सहायता के केवल स्वेच्छा के आधार पर आठ सहकारी संयुक्त खेतों की व्यवस्था की है। वहां के स्थानीय नेताओं ने अपनी इच्छानुसार कानून बनाए हैं। मैं धनौरा खण्ड को कामयाबी से काम करते हुए देख कर बहुत प्रभावित हुआ और मैं सहकारी खेती के आलोचकों से प्रार्थना करता हूं कि वे धनौरा खण्ड का दौरा करें और सहकारी आधार पर की जाने वाली संयुक्त खेती के व्यावहारिक लाभ अपनी आंखों से देख लें।

भारत में सहकारी खेती की कामयाबी उन्हें सामाजिक और राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं की ईमानदारी और दक्षता पर निर्भर करती है जो देश के विभिन्न भागों में सहकारी खेती के निर्माण में किसानों का दिशा-निर्देश कर रहे हैं और उनकी सहायता कर रहे हैं। सहकारिता भी जिन्दगी के बहुत से आदर्शों में से एक है और इस सम्बन्ध में वही लोग दूसरों को प्रभावित कर सकते हैं जो खुद उसमें पूर्ण विश्वास रखते हों।

तीसरी पंचवर्षीय योजना का आधार—सहकारिता

अशोक मेहता
संसद सदस्य

योजना बनाने से पहले नियमित अध्ययन की आवश्यकता होती है। तीसरी पंचवर्षीय योजना बनाने के लिए हमें पहली और दूसरी पंचवर्षीय योजनाओं के अनुभव को सामने रख लेना चाहिए। उन्हीं के प्रकाश में हमें अपनी अगली योजना का रूप निर्धारण करना होगा।

प्रारम्भिक सफलता

पहली पंचवर्षीय योजना को अनुकूल परिस्थितियां मिल गई थीं। पहली बात तो यह कि यह योजना छोटी थी, और दूसरी यह कि दो बरसातें बहुत अच्छी हो गईं जिनसे खाद्य समस्या आसान हो गई। प्राथमिक उत्पादनों के लिए विश्व की मंडियों में ऊंची कीमत मिलती थी। पहली योजना के समय में भारत को विदेशी व्यापार से ३२५ करोड़ रुपए का लाभ हुआ। विश्व युद्ध के बाद जो पौंड-पावने बच गए थे, वे अधिक आयात के लिए या खूब आजादी से आयात करके अन्दरूनी कीमतों को कम करने के लिए इस्तेमाल किए जा सकते थे। हमारे उद्योगों की बहुत-सी उत्पादन क्षमता यों ही बेकार पड़ी थी। इसका एक कारण तो यह था कि विभाजन के कारण कपास और पटसन जैसा कच्चा माल मिलना मुश्किल हो गया, और दूसरे, विश्व युद्ध की तोड़-फोड़ के कारण यातायात की सुविधाओं में कमी हो गई। ज्यों-ज्यों बिना अधिक पूंजी लगाए पुनर्वास का काम आगे बढ़ा, त्यों-त्यों ही उत्पादन भी बढ़ने लगा। ये कुछ इस तरह के लाभप्रद कारण थे जिन्हें दोहराया नहीं जा सकता।

पहली योजना की भूलें

पहली योजना बहुत अधिक सुनियोजित नहीं थी। योजनाबद्ध कार्य करने की विधि से हम अनभिज्ञ थे। आंकड़ों सम्बन्धी सामग्री सीमित थी। मुझे याद है कि जब मुझे योजना आयोग के साथ योजना पर विचार करने के लिए बुलाया गया, तो मैंने आयोग का ध्यान योजना में रोज़-गार की व्यवस्था की अनुपस्थिति की ओर दिलाया। जल्दी-जल्दी एक अध्याय तैयार किया गया और योजना के कागज़ों में अन्त में जोड़ दिया गया। जो चीज़ मुख्य होनी चाहिए थी वह परिशिष्ट बन गई थी — और किसी ने भी इस फर्क को महसूस नहीं किया था।

मुझे वे बातें भी याद हैं जो मैंने चिन्तामणि देशमुख से कीं। वह उस समय योजना आयोग के एक सदस्य थे। मैंने विदेशी सहायता की प्राप्ति और इस्पात का उत्पादन बढ़ाने के सम्बन्ध में आने वाली कठिनाइयों का ज़िक्र किया तो उन्होंने कहा कि यदि वे कठिनाइयां आईं तो सरकार को मेरे रास्ते पर, यानी समाजवाद के रास्ते पर चलना होगा।

दूसरी योजना

फिर दूसरी पंचवर्षीय योजना आई। योजना बनाने में यह हमारा पहला बड़ा कदम था। शुरू का काफी काम हो चुका था। अब कुछ योजना कार्यों को रस्सी से बांधने की बात नहीं थी, अन्दरूनी स्थायित्व स्थापित करने का भी प्रयत्न किया गया और अपनी अर्थ-व्यवस्था की कमज़ोरियों को दूर करने की कोशिश की गई। खेती के मुकाबले में उद्योगों और वह भी बड़े उद्योगों पर ज़ोर देना बहादुरी और सूझ की बात थी। इसके साथ उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन भी आरम्भ हुआ। कुटीर उद्योगों के द्वारा पूंजी के विनियोग की आवश्यकता को कम रखा गया, रोज़गार की सुविधाएं प्रदान की गईं और भवन-निर्माण उद्योगों में लगी भारी पूंजी का मुकाबला करने के लिए काफी मात्रा में उपभोक्ता वस्तुएं तैयार करने की व्यवस्था की गई।

धारणा और संगठन की दृष्टि से दूसरी योजना पहली योजना से कहीं बेहतर है। यह और बात है कि इसमें बहुत-सी व्यावहारिक

कठिनाइयों का पूरा अनुमान नहीं लगाया गया। इसमें यह समझ लिया गया कि संगठन सम्बन्धी बहुत-सी कठिनाइयां वक्त आने पर दूर हो जाएंगी। यहीं पर इसे मुंह की खानी पड़ी।

विदेशी मुद्रा का संकट

योजना की विदेशी मुद्रा सम्बन्धी समस्या का बहुत ही कम अनुमान लगाया गया। किसी ने यह बात नहीं समझाई कि हर प्रकार की मशीनरी को बाहर से मंगाना आसान नहीं है और जहां तक हो सके मशीनी पुर्ज़े देश में ही तैयार किए जाएं और केवल वही बाहर से मंगाए जाएं जिनके बिना काम चल ही नहीं सकता। सार्वजनिक और निजी दोनों क्षेत्रों में बड़े-बड़े आयात किए गए और बहुत जल्दी-जल्दी किए गए। परिणाम यह हुआ कि विदेशी मुद्रा का संकट आ पड़ा। प्राथमिक उत्पादनों की कीमत घट जाने के कारण बाज़ार उल्टा पड़ गया।

व्यूह रचना का परिणाम

खूब अच्छी फसलों के कारण हम कृषि के बारे में आशावादी हो गए थे। जब बुरा वक्त आया, जैसा कि मौसम के चक्कर में अनिवार्य है, तो हमारे पैर उखड़ गए। उसी वक्त यह पता चला कि जब एक ओर बड़े-बड़े बांधों का निर्माण किया जा रहा था, दूसरी ओर परम्परा से चले आ रहे सिंचाई के तरीकों का नाश हो रहा था क्योंकि कुओं और तालावों की कोई देख-भाल नहीं की जा रही थी। बिहार का उदाहरण लीजिए। १९४३-४४ और १९५५-५६ के बीच सिंचाई का क्षेत्र लगभग १० लाख एकड़ घट गया। हैदराबाद में उपेक्षित कुओं और तालावों की मरम्मत पर चार-पांच करोड़ रुपए खर्च आने का अनुमान लगाया गया। इसी तरह कुटीर उद्योगों के उत्पादन का विकास भी आसान नहीं रहा। उत्पादन का जितना काम अम्बर चर्खे को सौंपा गया था उसमें भी कटौती करनी पड़ी। बड़े-बड़े योजना-कार्यों की अपनी दुःख भरी कहानी है। "विकास की व्यूह रचना" निशाने से चूक गई है।

आन्तरिक साधन

मित्र देशों की सहायता के कारण हमारी विदेशी मुद्रा का संकट तो लगभग टल गया है। इसी दौरान आन्तरिक साधनों के सम्बन्ध में एक संकट उठ खड़ा हुआ है। १९५७-५८ में योजना में धन इस प्रकार लगाया गया :

बजट के साधन—१५.८ प्रतिशत (इसमें सरकारी बचत— ५.३ प्रतिशत और उधार और छोटी बचत योजनाएं— १०.५ प्रतिशत)

विदेशी सहायता—१४.६ प्रतिशत।

घाटे की अर्थ-व्यवस्था और पौण्ड-पावने की जमा पूंजी में से— ७० प्रतिशत ।

यह संकट अभी भी कायम है।

महत्वाकांक्षी योजना की आवश्यकता

इन कठिनाइयों के कारण बहुत-से लोग हमें बड़ी योजनाएं बनाने के विरुद्ध सलाह देते हैं। कुछ लोग यह चाहते हैं कि स्थिति को सुदृढ़ करने के लिए कुछ समय तक कोई योजना न बनाई जाए। इस सलाह पर ध्यान देना बेवकूफी की बात होगी। इस समय हमारी जन-संख्या लगभग २ प्रतिशत के हिसाब से बढ़ रही है। १८७२ और १९२१ के बीच हमारी जन-संख्या ०.२५ प्रतिशत के हिसाब से बढ़ी। १९२१ और १९५१ के बीच जन-संख्या १.२५ प्रतिशत के हिसाब से बढ़ी। अब यह लगभग २ प्रतिशत के हिसाब से बढ़ रही है। मृत्यु की दर में कमी के साथ ही विकास की ओर दृढ़ प्रयास करना होता है— नहीं तो अकाल और महामारियां हमें फिर घेर लेंगी।

हर वर्ष तीस-चालीस लाख आदमी शहरों में आ बसते हैं। पिछड़े हुए और पद्दलित लोग नए अवसर ढूंढ़ना चाहते हैं। ऐसी हालत में हम खड़े-खड़े गाल नहीं बजा सकते। और एक स्थिर या निश्चल योजना में भी, जिसमें केवल जन-संख्या बढ़ाने की व्यवस्था हो, १,००० करोड़ रुपया हर साल खर्च आएगा। चप्पुओं को मंझधार में छोड़ देने का मतलब होगा भंवर में फंस जाना।

हमें एक महत्वाकांक्षी तीसरी योजना की आवश्यकता है लेकिन वह उसी अनुभव के प्रकाश में बनानी होगी जो हमें प्राप्त हुआ है।

हमारे बहुत-से लोग अभी भी योजना में अछूते हैं। बिहार का उदाहरण लीजिए। कृषि पर निर्भर रहने वाले कमाऊ लोगों का अनुपात १६३१ के मुकावले में १६५१ में ७८.७ प्रतिशत से बढ़ कर ८७.३ प्रतिशत हो गया है। उद्योग पर निर्भर करने वाले कमाऊ लोगों का अनुपात ४.३ प्रतिशत से घट कर २.५ प्रतिशत रह गया है। इससे निष्कर्ष यह निकला कि लोगों का रुझान गांवों की तरफ बढ़ा है। ४० प्रतिशत ग्रामवासी खेतिहर मज़दूर हैं। जिनके पास भूमि है, उनमें से ६१ प्रतिशत ऐसे हैं जिनके पास एक एकड़ से अधिक भूमि नहीं है। जिनके पास ५० एकड़ से अधिक भूमि है, उनके यहां ७८ प्रतिशत तक ऐसा क्षेत्र है जिसमें खेती नहीं होती। फसल के प्रति एकड़ उत्पादन की दृष्टि से देखा जाए तो बिहार में सबसे कम पैदावार होती है। फसलों के औसत उत्पादन में काफी अन्तर रहता है। १६५१ में बिहार में ३२ लाख बेरोज़गार लोग थे, १६६१ में उनकी संख्या और भी अधिक होगी।

भूमि सुधार

यहां तीव्र भूमि सुधारों की आवश्यकता है। लेकिन बड़े ज़मींदारों से फालतू ज़मीनें ले लेना ही काफी नहीं होगा। उसे छोटे-छोटे टुकड़ों में बांट देना भी बेकार होगा। जिस बात की आवश्यकता है वह यह है कि जोत की उच्चतम सीमा निश्चित कर दी जाए और फालतू ज़मीन सहकारी संस्थाओं को दी जाए, जहां भूमिहीन मज़दूर और मामूली किसान, जिनके पास न साधन होते हैं न साहस, इकट्ठे मिल कर और उन साधनों या सहायता को लेकर जो सरकार से प्राप्त हो सकती हो, सहकारी ढंग पर नया विकास करें।

उत्पादन कैसे बढ़ाया जाए

प्रति एकड़ उत्पादन बढ़ाने और कृषकों की आय बढ़ाने के लिए भी तगड़ा कदम उठाना होगा। ग्राम क्षेत्रों में नई तकनीकें जारी करने

के लिए कुटीर उद्योगों से भिन्न कुछ दूसरे छोटे उद्योग चलाने होंगे। उनसे गांवों के ढांचे यानी सड़कों, बिजली आदि में उन्नति होगी। साहसी और उद्योगी व्यक्ति गांवों की ओर बढ़ेंगे। यह ज़रूरी होगा कि कृषकों की रुचि इन विकास-कार्यों में बढ़ाई जाए। यह एक तो इस तरह किया जाए जैसे बलवन्त राय मेहता समिति ने सुझाया कि प्रशासन का विकेन्द्रीकरण कर दिया जाए और दूसरे, जैसा कि यूगोस्लाविया में किया गया है, छोटे उद्योगों के संगठन में पंचायतों की बजाय किसानों को साथ रखा जाए। निर्माण सम्बन्धी योजना-कार्यों—जैसे तालाब गहरे करने, कुएं पक्के बनाने, भूमि संरक्षण, नहरें खोदने, जंगल लगाने—से बेरोज़गारी की समस्या को भी काफी हल किया जा सकता है। एक ओर तो कम वेतन पर काम हो जाएगा और दूसरी ओर उत्पादन बढ़ेगा। यह इस बात पर निर्भर करता है कि हम कितना संगठित प्रयास कर सकते हैं। दूसरी योजना में हम जिस काम में असफल रहे थे वह थी संगठन शक्ति। अगर हम तीसरी योजना में भी इस काम में असफल हुए तो यह बहुत घातक होगा।

अनिवार्य समाज सेवाएं

यह आवश्यक है कि किसी-न-किसी प्रकार की अनिवार्य समाज सेवाओं की व्यवस्था की जाए। यह कार्य नवयुवकों को समाज सेवा के लिए तैयार करने से हो सकता है।

अनुसंधान

अगले दो सालों में अनुसंधान के बाद हम यह निर्णय कर सकेंगे कि विभिन्न उद्योगों में उत्पादन की इकाई कितनी बड़ी हो। जहां कहीं छोटी इकाइयां ज्यादा दक्षता से कार्य कर सकें उनको तरजीह दी जाए क्योंकि उनमें क्षेत्र के विकास कार्य में संतुलन ज्यादा रह सकेगा, शहरों की ओर दौड़ने की प्रवृत्ति कम हो जाएगी, नए-नए कुशल कर्मचारी लगाए जा सकेंगे, और देहाती क्षेत्रों में विभिन्न पेशे और तकनीक ग्रहण किए जा सकेंगे।

सहकारी संस्थाएं

तीसरी योजना के लिए नए साधन खोजते हुए संगठित प्रयास की ओर ज्यादा ध्यान देना होगा। तीसरी योजना में सहकारी संस्थाओं को महत्व दिया जाना चाहिए।

राष्ट्रीय विकास में खेती और उद्योग

तरलोक सिंह
अतिरिक्त सचिव, योजना आयोग

जब कोई पंचवर्षीय योजना पूरी होने को आती है और उसके बाद अगली पंचवर्षीय योजना बनाने की बात चलती है तो देश के साधनों के सम्बन्ध में चर्चा शुरू हो जाती है, साथ ही इस बात पर भी बहुत बहस मुबाहिसा होता है कि खेती और उद्योगों में से किसको प्राथमिकता दी जाए। इन दोनों ही क्षेत्रों के पक्ष में बोलने वाले लोग यह भी मानते हैं कि खेती और उद्योग एक-दूसरे पर निर्भर हैं और विना एक-दूसरे की सहायता के आगे नहीं बढ़ सकते। अगर ऐसा है, तो यहां इस बात पर विचार कर लेना लाभदायक होगा कि खेती और उद्योगों का आपसी सम्बन्ध क्या है? साथ ही यहां कुछ ऐसे प्रश्नों पर प्रकाश डालना उचित होगा जिन पर वर्तमान परिस्थितियों में ज़्यादा ध्यान देने की ज़रूरत है।

कभी-कभी खेती या उद्योगों के पक्ष में बोलते हुए यह कहा जाता है कि हमें इतिहास से सबक लेना चाहिए। दूसरे विषयों की तरह आर्थिक विषय पर भी इतिहास में हमें कोई हू-ब-हू उसी प्रकार के उदाहरण नहीं मिल पाते। आर्थिक दृष्टि से विकसित वर्तमान किसी भी देश को शायद इतनी बड़ी जन-संख्या, ज़मीन पर इतने अधिक भार और इतनी बेरोजगारी का सामना नहीं करना पड़ा जितना कि हमारे देश में है। खेती के विकास में जिन विशेष उपादानों का महत्व होता है, वे अलग-अलग देशों में अलग-अलग होते हैं।

इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति से पहले खेती के क्षेत्र में क्रांति हुई। इसके निम्न कारण थे—(१) समुद्र पार जाकर व्यापार करने वाले लोगों के प्रयत्नों के कारण मंडियों का विस्तार; (२) चकबन्दी और खेती के

मेढ़ बांधने सम्बन्धी आन्दोलन (एनक्लोजर मुवमेंट) के कारण जोत का विस्तार; (३) वहां के ज़मींदारों द्वारा भूमि सुधार की कोशिश के कारण तकनीकी उन्नति और उसके परिणामस्वरूप उत्पादन की वृद्धि। फ्रांस में १८वीं शताब्दी के अन्त में और १९वीं शताब्दी के शुरू में भूमि को किसान की मिल्कियत मान लिया गया। इससे वहां की खेती का विकास हुआ, लेकिन विकास की गति तब तक बहुत धीमी रही, जब तक कि (५० वर्ष बाद) वहां परिवहन की सुविधाओं का विकास हुआ और उत्पादन बढ़ाने के लिए एक नई प्रेरणा मिली। जर्मनी में सरकारी नीति और सहकारी संस्थाओं ने मुख्य कार्य किया। जापान में खेती का विकास औद्योगिक विकास से पहले हुआ। इसका कारण वहां की परिस्थितियां थीं जिनमें खेती को ज़्यादा व्यापारिक होना पड़ा और खेतिहरों को पहले की अपेक्षा ज़्यादा टैक्स देने के लिए अपनी हालत तेज़ी से सुधारनी पड़ी। अमेरिका में प्रगति की शुरुआत प्राकृतिक सुविधाओं के कारण हुई, लेकिन बाद में बाहर से आने वाले लोगों ने उस प्रगति को और भी तेज़ कर दिया क्योंकि जो लोग वहां आकर बसे, वे अपने साथ पूंजी और तकनीक दोनों लाए। इससे वहां की खेती के तरीकों में सुधार हुआ।

इन सब देशों के विकास में हमारे लिए जो बात महत्व रखती है, वह केवल यह है कि आर्थिक विकास के प्रारम्भिक दिनों में खेती का विकास पहले हुआ या उद्योगों का? इन सब उदाहरणों से यह पता चलता है कि इन दोनों क्षेत्रों के विकास में बहुत लम्बे अर्से का अन्तर नहीं रहा। अगर किसी निश्चित अवधि को लें (यह अवधि बहुत छोटी नहीं होनी चाहिए) तो यह पता लगेगा कि फलते-फूलते उद्योग और पिछड़ी हुई खेती कभी एक साथ नहीं चल पाए।

खेती और उद्योगों के मूल सम्बन्धों को थोड़े से शब्दों में हम इस प्रकार कह सकते हैं। उद्योगों के विकास और उससे सम्बद्ध नगरों के विकास की प्रक्रिया में आवश्यक खाद्यान्नों, कच्चे माल और मज़दूरों की मांग खेती ही पूरा कर सकती है। साथ ही बढ़ती हुई आबादी के लिए खाद्यान्नों और खुराक में पौष्टिक पदार्थों की मांग को भी खेती ही पूरा कर सकती है। विकास के प्रारम्भिक चरणों में भुगतान का स्वस्थ सन्तुलन भी खेती द्वारा ही कायम

रखा जा सकता है। अपनी बारी में उद्योगों से खेती का उत्पादन बढ़ाने के साधन हमें प्राप्त होते हैं। साथ ही खेती के उत्पादन के परम्परागत उपयोग की बजाय उसके व्यापारिक और औद्योगिक उपयोग में उद्योग सहायता करते हैं, जिसमें जटिल कार्य-कुशलता और तकनीक की ज़रूरत होती है। उद्योग गांवों की बढ़ती हुई आबादी को कम करने में भी सहायता करते हैं क्योंकि बहुत से लोग उद्योगों में लग जाते हैं और इस प्रकार गांवों के बाकी लोग अपनी खेती की पैदावार बढ़ा सकते हैं और खेतों से होने वाली अधिक और वास्तविक आय का लाभ उठा सकते हैं।

आर्थिक विकास की सन्तुलित प्रक्रिया में बहुत-सी बातों को ध्यान में रखना होता है। सबसे पहली बात जिसका ध्यान रखना पड़ता है, वह यह है कि अर्थ-व्यवस्था के विकास में खेती का योग कितना है। जहां खेती से राष्ट्रीय उत्पादन का ४० से ५० प्रतिशत तक प्राप्त होता हो, वहां खेती के विकास की गति कम-से-कम उतनी तेज़ होनी चाहिए जितनी कि पूर्ण अर्थ-व्यवस्था के विकास के लिए अपेक्षित है। कुछ परिस्थितियां ऐसी होती हैं जिनमें, खासकर विकास की प्रारम्भिक अवधि में, ऐसा करना बिल्कुल आसान होता है। क्योंकि विकास का कार्य शुरू करने से पहले उत्पादन की मात्रा बहुत कम होती है, इसलिए थोड़ा-सा सुधार कर देने से उत्पादन में काफी वृद्धि हो जाती है और इस तरह पूंजी के उत्पादन का अनुपात खेती के लिए अधिक-से-अधिक लाभदायक सिद्ध हो सकता है। बाद में जब खेती के विकास पर विशेषकर खाद, सिंचाई वगैरा पर काफी पूंजी लगानी पड़ती है, तब लाभ का अनुपात कम होता है। विकास के पहले चरण में कुछ तो परम्पराओं के कारण और कुछ काफी मात्रा में जन-शक्ति उपलब्ध होने के कारण मुद्रा के विनियोग के बिना भी काफी काम किया जा सकता है जो कि बाद में सम्भव नहीं हो पाता।

खेती के पक्ष में एक और बात है जिसके कारण इसको अधिक महत्व दिया जाना चाहिए, वह यह है कि इस क्षेत्र में उत्पादन बढ़ाने की प्रक्रिया लगभग वही है जो उपलब्ध जन-शक्ति से भरपूर काम लेने और उनको पूरा रोज़गार देने की समस्या को हल करने की है। पूंजी निर्माण की दृष्टि से भी लगभग यही निष्कर्ष निकलता है। अर्द्ध-विकसित अर्थ-व्यवस्था में

सर्वहित की दृष्टि से हर क्षेत्र को जब तक अर्थ-व्यवस्था का पूरा योग नहीं मिलता तब तक पूंजी निर्माण आवश्यक रूप से कम और अयथेष्ट होता है। अर्थ-व्यवस्था की प्रत्येक शाखा से अधिक-से-अधिक पूंजी निर्माण के उपायों को उस शाखा की विशिष्ट ज़रूरतों और सम्भावनाओं से संयुक्त करना पड़ेगा। ग्रामीण क्षेत्रों के भरपूर विकास द्वारा ही मुख्यतः ग्रामीण पूंजी की मात्रा बढ़ाई जा सकती है। इसलिए कुल मिला कर अर्थ-व्यवस्था के विकास को ऐसा रूप देना होगा जिससे जल्दी-से-जल्दी प्रत्यक्ष रूप से यह उद्देश्य पूरा हो सके।

जो कुछ अब तक कहा गया है उससे यह सिद्ध हो जाता है कि खेती और राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था की ज़रूरतों में काफी समरूपता है और वे एक ही संयुक्त ढांचे के दो अंग हैं। विकास की प्रक्रिया ही कुछ ऐसी होती है जिसमें खेती और ग्रामीणों के हित कुछ हद तक पीछे रह जाते हैं और ग्रामीण और नागरिक हितों में संघर्ष बढ़ जाता है। यह बात हमारे सामने बहुत से रूपों में आती है, खासकर (१) राष्ट्रीय उत्पादन में खेती की अपेक्षा उद्योगों का अधिक भाग; (२) उद्योगों में प्रति व्यक्ति उत्पादकता की मात्रा में अधिक बढ़ोतरी; (३) खेती की अपेक्षा उद्योगों में अधिक आमदनी। यह सत्य है कि उद्योगों के विकास से जिन लोगों को लाभ होता है, उनमें से बहुत से गांवों के रहने वाले हैं। फिर भी खेती और उद्योगों में एक विरोध देखने में आता है जो कि धीरे-धीरे बढ़ रहा है और जिसका मूल्यों और करों सम्बन्धी नीति पर तथा दूसरे क्षेत्रों पर काफी प्रभाव होता है।

इन दोनों क्षेत्रों में जो शक्तियां काम कर रही हैं, उनका बुनियादी चरित्र लगभग एक-सा है और रहेगा। उन्हें थोड़ा-सा प्रलोभन देकर किसी तरह जल्दी सुलझाने की बजाय इन बातों को दृष्टि में रख कर सुलझाना होगा—(१) कुल मिला कर अर्थ-व्यवस्था के विकास की रफ्तार; (२) औद्योगीकरण का ढांचा; (३) ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था का ढांचा। यहां यह स्पष्ट कर देना काफी होगा कि तेज़ी से विकसित होती हुई अर्थ-व्यवस्था के कारण ही हम यह आशा कर सकते हैं कि ग्रामीण और औद्योगिक क्षेत्र की प्रगति में सही संतुलन उत्पन्न होगा और इन दोनों का अन्तर्निहित तनाव दूर हो जाएगा।

साधारणतया औद्योगिक विकास में, चाहे वह निजी संस्थाओं द्वारा हो या सरकारी संस्थाओं द्वारा, ग्रामीण विकास की बात बिल्कुल अप्रत्यक्ष रूप से और कुछ समय गुज़रने के बाद उठाई जाती है। कुछ मूल उद्योगों में उचित क्षमता का निर्माण करने के अलावा दूसरे क्षेत्रों के सम्बन्ध में मुख्य नीति यह होनी चाहिए कि जगह-जगह औद्योगिक सुविधाओं का ज्यादा-से-ज्यादा विस्तार किया जाए जिससे ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था मज़बूत हो और उसमें कुछ विविधता आ जाए। साथ ही छोटे-छोटे कस्बों और ग्रामीण क्षेत्रों में काफी संख्या में उद्योग खुलें।

हमारी ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के सम्बन्ध में बहुत ही दु:ख की बात यह है कि यद्यपि गांवों में विस्तार-सेवाओं का जाल फैलता जा रहा है; सिंचाई में पहले से ज्यादा पूंजी लगाई जाती है, और भूमि सुधार के प्रयत्न से बहुत कुछ सामाजिक प्रभाव पड़ रहा है, फिर भी हमारी जोत बहुत छोटी हैं जो कि आर्थिक दृष्टि से लाभदायक सिद्ध नहीं होतीं। पिछली शताब्दी में आर्थिक विकास के सम्बन्ध में जो महत्वपूर्ण काम किए गए हैं, उनसे वर्तमान जोतों को कोई खास लाभ नहीं हो सका और क्योंकि हमारी आबादी तेज़ी से बढ़ रही है, भविष्य में यह समस्या और भी गम्भीर हो जाएगी। खेती के वर्तमान ढांचे की तकनीकी और आर्थिक सम्भावनाएं अभी तक ठीक से कूती नहीं गई हैं और मौजूदा ढांचे में भी इसमें बहुत कुछ करने की गुंजाइश है और करना पड़ेगा। वर्तमान ढांचे में देश कुछ आगे ज़रूर बढ़ेगा, लेकिन उतनी तेजी से नहीं जिससे हमारी कम-से-कम ज़रूरतें भी पूरी हो जाएं। गांवों में ऐसी परिस्थितियां पैदा करनी होंगी जिनमें लोग अपनी सहायता और कोशिशों से ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था को सहकारिता के आधार पर तेज़ी से और कुशलता से पुनर्गठित करें। राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के विकास और गांवों में रहने वाले करोड़ों लोगों, चाहे वह अपने को शोषक मानें या शोषित, के हित को दृष्टि में रखते हुए इस कार्य का आज भी उतना ही, बल्कि पहले से कहीं ज्यादा महत्व है।

योजना की समस्याएं

जे० जे० अंजारिया

आर्थिक सलाहकार, योजना आयोग

हालांकि अब हमारी दूसरी पंचवर्षीय योजना पूरी होने को आ रही है, लेकिन अब भी हम विकास की देहली तक ही पहुंचे हैं। पहली पंचवर्षीय योजना में तो विकास के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि ही तैयार हो पाई थी। उसके लक्ष्य मुख्यत: अर्थ-व्यवस्था की तत्कालीन आवश्यकताओं और सम्भावनाओं को दृष्टि में रख कर निश्चित किए गए थे, न कि योजना आयोग की रिपोर्ट में दिए गए दीर्घकालीन लाभों को दृष्टि में रख कर। दूसरी योजना में औद्योगीकरण पर ज्यादा ज़ोर दिया गया। इसलिए आर्थिक और संगठन सम्बन्धी साधनों की बहुत अधिक मात्रा में ज़रूरत पड़ी। योजना के शुरू के थोड़े ही अर्से बाद हमारे सामने कठिनाइयां आईं और अब यह प्रश्न पूछा जाता है कि क्या दूसरी योजना के लक्ष्य और प्राथमिकताएं उचित थीं। अब जबकि तीसरी योजना बनाने की बात चल रही है तो ये सब बातें सामने आ रही हैं।

समन्वयात्मक कार्यक्रम ज़रूरी

विकासोन्मुख योजनाओं में विभिन्न स्तरों पर समन्वयात्मक काय करने की आवश्यकता होती है, और इसके लिए सामाजिक शक्तियों में सन्तुलन कायम करना बहुत ज़रूरी है। यही कारण है कि विकास योजनाओं का आर्थिक पहलू होने के साथ ही एक सामाजिक दर्शन भी होता है। लोकतन्त्र में योजनाओं को कामयाब बनाने के लिए यह ज़रूरी है कि समाज के सभी वर्ग इस बात को स्वीकार करें। अगर यह बात लोगों में पैदा करनी है और इसे दृढ़ बनाना है तो अप्रत्यक्ष रूप से इसका

समर्थन कर देने से ही काम नहीं चल सकता, इसके लिए लोगों को क्रियाशील बनाना ज़रूरी है।

मैं यहां भारतीय योजनाओं के सामाजिक दर्शन या आर्थिक महत्व की कोई सन्तोषजनक व्याख्या नहीं कर सकता। प्राचीन भारतीय दार्शनिक ने सत्य की व्याख्या करते हुए 'नेति नेति' पद्धति से काम लिया और हालांकि इस परिभाषा की अपनी सीमाएं हैं, कम-से-कम यह तो कहा ही जा सकता है कि भारतीय योजनाओं का उद्देश्य किसी वर्ग विशेष—पूंजीवादी, साम्यवादी या अन्य किसी वर्ग को प्रोत्साहन देना नहीं है। हमारी योजनाओं का उद्देश्य साधारणतया समाजवादी समाज की स्थापना करना है, लेकिन यह उद्देश्य कोई किसी एक खास ढांचे को लिए हुए नहीं है। इसके अन्तर्गत कुछ खास बातों पर ज़ोर दिया गया है जैसे कि असमानता दूर करना, आर्थिक शक्ति का संतुलित विभाजन और स्थानीय साधनों का संगठन, खासकर निम्न वर्ग के लोगों के कौशल और क्षमताओं को कुछ विशेष क्षेत्रों में सहकारी आधार पर संगठित करना आदि। लेकिन किसी आर्थिक संगठन के ढांचे के सम्बन्ध में केवल यही बातें नहीं होती। भारतीय योजनाओं का उद्देश्य ऐसी अर्थ-व्यवस्था का निर्माण करना नहीं है जो पूर्णतया निजी क्षेत्रों पर निर्भर करे, फिर भी निजी उद्योगों को विकास की प्रक्रिया में आगे आकर महत्वपूर्ण योग देना होगा। हमारा उद्देश्य यह भी नहीं है कि समस्त उत्पादक साधनों की मालिक सरकार बन बैठे या ऐसी एकतन्त्री व्यवस्था कायम की जाए जिसमें आर्थिक विकास की समस्त शक्ति राज्य में केन्द्रित हो। हमारा उद्देश्य है कि एक सन्तुलित और तीव्र विकास की प्रक्रिया में राज्य एक मुख्य एजेंसी के रूप में काम करे।

राष्ट्रीय आय में वृद्धि

यह स्पष्ट है कि योजना के अन्तर्गत किए गए विस्तार कार्यक्रमों से भारतीय अर्थ-व्यवस्था पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा है। राष्ट्रीय आय में औसतन ३ १/२ प्रतिशत की वृद्धि हुई है। अगर १९४८—४९ को राष्ट्रीय आय का आधार वर्ष (१००) मान लिया जाए और उसके

वाद मूल्य की घट-बढ़ का विचार न किया जाए तो १९५८-५९ में राष्ट्रीय ग्राय १३४ बैठती है। दूसरे शब्दों में सन् १९५८-५९ में पिछले वर्ष की अपेक्षा राष्ट्रीय ग्राय में ६.८ प्रतिशत की वृद्धि हुई। इससे उन लोगों को प्रोत्साहन मिलना चाहिए जो सन् १९५७-५८ की राष्ट्रीय ग्राय के ग्रांकड़ों को देख कर कुछ निराश हो गए थे। १९५०-५१ के बाद खेती के उत्पादन में लगभग ३० प्रतिशत, ग्रौर ग्रौद्योगिक उत्पादन में लगभग ५० प्रतिशत की वृद्धि हुई है। इनसे भी ज्यादा महत्व की वात यह है कि अर्थ-व्यवस्था की उत्पादन-क्षमता में बहुत काफी वृद्धि हुई है। बहुत से नए उद्योग खड़े हो गए हैं, ग्रौर ग्रगर उन उद्योगों को यथेष्ट मात्रा में बिजली उपलब्ध करा दी जाए, तो इस दिशा में ग्रागामी कुछ सालों में तेजी से प्रगति हो सकती है। शिक्षा ग्रौर तकनीकी प्रशिक्षण की सुविधाग्रों का बहुत तेजी से विस्तार किया जा रहा है। डाक्टरी ग्रौर स्वास्थ्य सम्बन्धी सुविधाग्रों का भी विस्तार हो रहा है। मध्यम ग्रौर छोटे दर्जे के उपक्रमी ग्रौद्योगिक भी तैयार हो रहे हैं ग्रौर तरह-तरह के व्यवसाय करने वाले वर्गों के लोग उद्योगों को स्थायी धन्धे के रूप में ग्रपना रहे हैं। खुशी की बात यही है कि देश में उन्नति करने की इच्छा ज़ोर पकड़ रही है ग्रौर ग्रब किसान की रूढ़िवादिता या नए ग्रौर सुधरे हुए तरीके ग्रपनाने में छोटे उद्योगपतियों ग्रौर दस्तकारों की झिझक उद्योगों की प्रगति में बाधक नहीं हो रही है। ग्रब तो बाधा सिर्फ यह है कि हमारी वर्तमान ग्रर्थ-व्यवस्था में उद्योगों में विनियोग के लिए काफी राशि उपलब्ध नहीं है।

यहां यह भी जान लेना चाहिए कि कि पूंजी विनियोग में इतनी वृद्धि होने पर भी महंगाई बहुत ग्रधिक नहीं बढ़ी है। थोक मूल्यों के ग्रांकड़ों से पता चलता है कि थोक मूल्यों में १९५२-५३ की ग्रपेक्षा २० प्रतिशत की वृद्धि हुई है। रहन-सहन का स्तर भी लगभग इतना ही मंहगा हुग्रा। चाहे इससे किसी को कितना भी ग्रफसोस हो ग्रौर खास कर उनको होगा जिनकी ग्रामदनी निश्चित है, पर इस समस्या पर दीर्घ-कालीन ृष्टि से विचार करना ज़रूरी है। विकास की किसी भी योजना में बहुत मात्रा में पूंजी विनियोग करना ज़रूरी होता है। इसलिए

साधनों पर उसका भार पड़ना अनिवार्य है। मूल्यों और रहन-सहन के खर्च में जो वृद्धि हुई है, वह किसी भी तरह अन्य देशों से अधिक नहीं है। १९४८ और १९५८ के बीच रुपए की क्रय-शक्ति औसतन प्रति वर्ष १.७ प्रतिशत घटी है। इस अवधि में प्रति वर्ष, अमेरिकी डालर की १.८ प्रतिशत ब्रिटिश पौंड की ४.३ प्रतिशत, फ्रांस के फ्रैंक की ६.८ प्रतिशत, जर्मनी के मार्क की १.७ प्रतिशत घटी है। इसका अर्थ यह नहीं कि हमारी योजनाएं और नीतियां बिल्कुल ठीक हैं। होशियारी और विश्वास के साथ आगे बढ़ने की आवश्यकता है। मेरे विचार में, राष्ट्रीय आय की किसी निश्चित राशि की विभिन्न समयों की वास्तविक क्रय-शक्ति का परस्पर मुकाबला करना तब तक उचित नहीं जब तक कि यह न जान लिया जाए कि राष्ट्रीय आय भी बढ़ी है या नहीं।

हमारी राष्ट्रीय आय में वास्तविक वृद्धि हुई है। कुल मिला कर राष्ट्रीय आय की इस वृद्धि का चाहे उनके लिए कोई महत्व न हो, जिनके परिवार के छोटे सदस्यों को न तो रोज़गार मिला है, और न पहले से रोज़गार में लगे हुए लोगों की आय में वृद्धि ही हुई है। अगर केवल मूल्यों सम्बन्धी आंकड़े देख कर योजनाओं के कारण पड़ने वाले भार का अनुमान लगाया जाए तो गलती की बहुत अधिक सम्भावना है।

यहां मैं यह बता देना चाहता हूं कि विकास की प्रक्रिया में, समाज के निम्न वर्ग को अधिक लाभ पहले से ही रोज़गार पर लगे हुए परिवार के सदस्यों की आय बढ़ने से नहीं होता बल्कि रोज़गार की सुविधाओं के विस्तार से होता है। इसका यह अर्थ नहीं कि मूल्य बढ़ना बुरी बात नहीं है, या इस सम्बन्ध में हमें ज्यादा सचेत नहीं रहना है। मूल्यों की स्थिरता अर्थ-व्यवस्था का केवल एक पहलू है। केवल इसी के आधार पर हमें किसी अर्थ-व्यवस्था की दृढ़ता का पता नहीं चल सकता।

मार्ग की कठिनाइयां

ऊपर बताई गई सफलताओं के अलावा हमें यह भी देखना है कि हमारी अर्थ-व्यवस्था को कितनी कठिनाइयों में से गुज़रना पड़ा है। अब तक हम किसी न किसी तरह मुद्रा-स्फीतिमूलक दबावों पर काबू पाते रहे हैं,

लेकिन भावी मुद्रा-स्फीति को रोकने के साधन अब पहले कुछ सालों की अपेक्षा कमजोर पड़ गए हैं। अब जनता मुद्रा-स्फीति के सम्बन्ध में बहुत सतर्क हो गई है और वह मूल्यों में वृद्धि का विरोध करती है। उदाहरण के लिए विभिन्न उद्योगों और सार्वजनिक क्षेत्र के कार्यालयों में वेतन बढ़ाने पड़े। दूसरे, विदेशी मुद्राकोष बहुत कम रह गया है और तीसरी योजना की अवधि में काफी विदेशी कर्ज़ चुकाना है। तीसरे, सिंचाई, सामुदायिक विकास-कार्यों और खेती-सुधार के दूसरे कामों पर भारी रकम लगाने के बावजूद भी खेती के उत्पादन में आवश्यकता के अनुसार वृद्धि नहीं हुई। चौथे, समाज के कुछ वर्गों का—चाहे कोई उनसे पूछे या न पूछे— यह कहना है कि अब अतिरिक्त कर लगाने की बिल्कुल गुंजाइश नहीं है और तीसरी योजना में इस साधन से किसी तरह की आर्थिक सहायता की आशा नहीं रखनी चाहिए।

दूसरी योजना को कार्यान्वित करने में आन्तरिक और बाह्य दोनों ही साधनों के सम्बन्ध में दिक्कतें आईं। यह प्रश्न किया जाता है कि क्या इससे यह सबक नहीं मिलता कि तीसरी योजना बनाते वक्त दूसरी योजना की गलतियां न दोहराएं और उसका आकार इतना ही रखें जो उपलब्ध साधनों के जरिए पूरा किया जा सके ?

दूसरी योजना

दूसरी पंचवर्षीय योजना में बुनियादी लक्ष्य और प्राथमिकताएं उचित ही रखी गई थीं। क्या यही बात साधनों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है ? यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका उत्तर सीधे हां या ना में नहीं दिया जा सकता। सार्वजनिक क्षेत्र में ४,८०० करोड़ रुपए के विनियोग में १,२०० करोड़ रुपए की घाटे की अर्थ-व्यवस्था का कार्यक्रम शामिल था और ४०० करोड़ रुपए की व्यवस्था करनी बाकी थी। जैसा कि योजना की रिपोर्ट में भी कहा गया था, वह योजना सन्तोषजनक नहीं थी। योजना के पहले साल में ही यह स्पष्ट हो गया था कि करों का लक्ष्य बहुत कम रखा गया है और योजना के पांच वर्षों में केन्द्र और राज्य द्वारा लगाए जाने वाले अतिरिक्त करों से ९०० करोड़ रुपए से ऊपर

की आय होनी थी। इसके अतिरिक्त विदेशी सहायता भी अनुमान से कहीं ज्यादा प्राप्त हुई। यह सब होने के बावजूद सार्वजनिक क्षेत्र में साधनों की कमी पड़ गई।

सबसे बड़ी दिक्कत निःसन्देह विदेशी मुद्रा की रही। योजना के पहले वर्ष में ही पौंड पावने से २२१ करोड़ रुपया निकालना पड़ा और १९५७-५८ में यह राशि २६० करोड़ तक पहुंच गई। सितम्बर १९५९ तक पौंड पावने में ५६७ करोड़ रुपए की कमी हुई। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि दूसरी योजना में विदेशी मुद्रा की मांग के सम्बन्ध में अनुमान बहुत कम लगाया गया और निजी क्षेत्र द्वारा सोपानगत रूप से आयात के सम्बन्ध में भी ठीक योजना नहीं बनाई गई।

यहां यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए कि योजना के मौजूदा आकार के लिए यह ज़रूरी था कि वे बड़े-बड़े योजना-कार्य जिनमें विदेशी मुद्रा काफी मात्रा में खर्च होनी थी जल्दी-से-जल्दी शुरू किए जाएं। और अगर योजना के पहले भाग में विदेशी मुद्रा के सम्बन्ध में कुछ कठिनाइयां सामने आईं, तो यह कोई ऐसी बात नहीं है, जिससे हम निराश हों, क्योंकि इसके बिना हमारे योजना-कार्य पूरे नहीं हो पाते और हमें अपने कार्यक्रम स्थगित करने पड़ते।

तीसरी योजना का आकार

तीसरी योजना में हमें और अधिक पंजी लगानी होगी। जन-संख्या की वृद्धि की रफ्तार अब पहले की अपेक्षा बढ़ गई है। इसका यह अर्थ हुआ कि प्रति व्यक्ति आय के वर्तमान स्तर को बनाए रखने के लिए ही हमें पहले की अपेक्षा अधिक पूंजी का विनियोग करना होगा। दूसरे, अर्द्ध-रोज़गारी और बेरोज़गारी बहुत अधिक है। उसे यथासम्भव कम करना होगा। तीसरे, तीसरी योजना में जितना अधिक पूंजी विनियोग होगा और जितनी अधिक आय बढ़ सकेगी, आगामी विकास योजनाओं के लिए उतने ही अधिक साधन उपलब्ध हो सकेंगे। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए यह कहना होगा कि दूसरी पंचवर्षीय योजना पर दी गई रिपोर्ट

में तीसरी योजना के पूंजी विनियोग का ६,६०० करोड़ रुपए का जो लक्ष्य रखा गया है, वह कुछ कम ही है।

लेकिन साथ ही यह भी सत्य है कि योजना का आकार उतना ही बड़ा रखा जा सकता है, जितने साधन हों। इस सम्बन्ध में सब बातों को ध्यान में रखते हुए अधिक-से-अधिक ऊंचे लक्ष्य रखे जाएं। योजना के लिए साधनों की मात्रा, साधन किस रफ्तार से बढ़ रहे हैं इस बात पर भी निर्भर करती है और क्योंकि मार्ग में आने वाली पहली कठिनाइयों को पार करना ही ज्यादा मुश्किल होता है, इसलिए एक ऐसे देश को जो विकास की पहली सीढ़ियां ही चढ़ रहा है, इन कठिनाइयों को पार करने के लिए अपनी समस्त शक्ति लगा देनी चाहिए। अगर विकास का बहुत व्यापक कार्यक्रम असफल हो सकता है, तो बहुत सीमित कार्यक्रम भी असफल हो सकता है। मैं यहां यह बात बता देना चाहता हूं कि विनियोग के लिए उपलब्ध साधनों की मात्रा में वृद्धि तभी होती है जब विभिन्न योजना-कार्य पूरे हो जाते हैं और उनमें पूरी क्षमता पर उत्पादन होने लगता है। किसी भी ऐसी योजना में जिसमें दीर्घकालीन योजना-कार्य अधिक हों, योजना की अवधि में ऐसे साधन उपलब्ध नहीं हो पाते जिनका उपभोग किया जा सके या जिन्हें आगामी कार्यों में पूंजी के रूप में लगाया जा सके। दूसरे शब्दों में जितनी बड़ी योजना होगी, पूंजी विनियोग के ढांचे में हमें उतना ही अधिक सन्तुलन रखना होगा।

खेती का उत्पादन बढ़ाना जरूरी

पर भारत जैसे देश में जहां नई क्रय-शक्ति का ज्यादातर भाग खाद्यान्न खरीदने पर खर्च करना पड़ता हो, विकास की प्रगति बहुत कुछ खाद्यान्नों के उत्पादन की वृद्धि पर निर्भर करती है। अगर इस क्षेत्र में हम पीछे रह जाते हैं तो योजना के लिए आन्तरिक और बाह्य साधनों के सम्बन्ध में जो अनुमान लगाए गए थे, उनका गलत सिद्ध होना स्वाभाविक ही है। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि कुल मिला कर देश भर में खेती का उत्पादन बढ़ाया जाए। योजना के साधन मुख्यतः इसी क्षेत्र की सफलता पर निर्भर करते हैं।

विकास के किसी भी व्यापक कार्यक्रम में पूंजी लगाने के लिए जनता के सभी वर्गों को त्याग करना पड़ता है। इस बात को दृष्टि में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि करों में वृद्धि और विस्तार की गुंजाइश भी है। अगर कोई यह मान ले कि खेती के क्षेत्र में लोगों की आय में वृद्धि होने की सम्भावना नहीं है, तो इस क्षेत्र में प्रत्यक्ष कर लगाने से उन पर बोझ पड़ेगा। लेकिन अगर यह उम्मीद हो कि तीसरी योजना में खेती के उत्पादन में काफी वृद्धि हो सकेगी, तो इसका कोई कारण नजर नहीं आता कि इसका कुछ भाग करों के रूप में ले न लिया जाए। जहां तक शहरी क्षेत्रों में प्रत्यक्ष कर लगाने का सम्बंध है, वह कहीं-कहीं जहां थोड़ी-बहुत गुंजाइश हो, विस्तृत किया जा सकता है। लेकिन तीसरी योजना के लिए करों के ज़रिए अतिरिक्त आय अप्रत्यक्ष करों में वृद्धि करके ही प्राप्त की जा सकती है। १९५०-५१ में कुल मिला कर राष्ट्रीय आय का लगभग ६.६ प्रतिशत करों के रूप में प्राप्त हो रहा था जबकि १९५८-५९ में यह लगभग ८.३ प्रतिशत तक हो गया। यह वृद्धि अधिकतर नए कर लगा कर या वर्तमान करों में वृद्धि करके की गई। मोटे तौर पर यह अनुमान है कि अगर तीसरी योजना में अतिरिक्त कर नहीं लगाए गए, तो तीसरी योजना के अन्त तक यह अनुपात ७.६ या ७.७ प्रतिशत तक रह जाएगा। ज़रूरत इस बात की है कि इस अनुपात को ८.३ प्रतिशत से बढ़ा कर १० और ११ प्रतिशत के बीच कर दिया जाए।

विदेशी सहायता

किसी भी विकासोन्मुख अर्थ-व्यवस्था में कुछ समय के लिए काफी मात्रा में बाह्य साधनों के विनियोग की आवश्यकता होती है। इस समस्या को अर्द्ध-विकसित देशों की ज़रूरतों की दृष्टि से ही नहीं देखना चाहिए। अधिक विकसित देशों में उपलब्ध अतिरिक्त पूंजी की दृष्टि से भी इसका अधिक महत्व है। युद्धोत्तर काल में औद्योगिक दृष्टि से उन्नत देशों की यह प्रवृत्ति बढ़ती रही है कि वे इस प्रक्रिया में भाग लें और विश्व बैंक जैसी अन्तर्राष्ट्रीय एजेंसियों ने आर्थिक विकास में विनियोग

के लिए काफी मात्रा में पूंजी एकत्र कर ली है। जिन देशों में पूंजी का अभाव है, पर वहां राजनीतिक परिस्थितियां अच्छी हैं और आर्थिक विकास के लिए गुंजाइश है, वहां विदेशों के उद्योगपति भी पूंजी लगाने के लिए तैयार हैं।

लेकिन आगे आने वाले कुछ वर्षों तक अन्तर्राष्ट्रीय एजंसियों से और 'एक सरकार से दूसरी सरकार को', इस आधार पर और अधिक मात्रा में सहायता लेने की ज़रूरत पड़ेगी।

इस सम्बन्ध में एक और महत्वपूर्ण समस्या कर्ज़ अदा करने की है। विकास की प्रक्रिया में विदेशों का कर्ज़ अदा करने की क्षमता धीरे-धीरे ही बनती है क्योंकि विकास की गति को बढ़ाने के लिए आवश्यक मशीनें, दूसरे सामान और कच्चे माल की ज़रूरत तेज़ी से पड़ती है और देशी उत्पादन की वृद्धि के द्वारा आयात धीरे-धीरे ही कम किया जा सकता है। निर्यात करने की क्षमता तो काफी अर्से के बाद ही बन पाती है।

जिन देशों का १९वीं शताब्दी में आर्थिक विकास हुआ उनको एक विशेष सुविधा यह प्राप्त रही कि उन्हें अपने विदेशी कर्ज़ के भुगतान के लिए अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी से काफी सहायता मिली। क्या यह स्थिति फिर उत्पन्न हो सकेगी, यह कहना बहुत मुश्किल है। परन्तु यह स्पष्ट है कि आर्थिक विकास के लिए कर्ज़ ली गई रकम के भुगतान की शर्तें ऐसी होनी चाहिएं, जिससे देश के उत्पादन की बढ़ोतरी के द्वारा ही उस कर्ज़ को अदा किया जा सके। इससे एक निष्कर्ष यह भी निकलता है कि विकासोन्मुख देशों को यह भी चाहिए कि वे अपने कुछ योजना कार्यों में शेयरों के रूप में विदेशी पूंजी का विनियोग करें।

अन्त में प्रश्न यह उठता है कि देश में वस्तुओं के उपभोग की मात्रा किस हद तक सीमित की जा सकती है और निर्यात करने के लिए कितना माल उपलब्ध हो सकता है? विकास कार्यक्रम के लिए विदेशों से प्राप्त धन का अगर इतना अधिक भार पड़ जाए कि कर्ज़ लेने वाले देश को अपने विकास की रफ़्तार कम करके वह कर्ज़ चुकाना पड़े तो यह बहुत बुरी बात होगी। इस समस्या का सम्बन्ध मुख्यतः इस बात से है कि शर्तें ऐसी हों जिससे सहायता का मुख्य उद्देश्य पूरा हो सके। लेकिन

यहां इस बात का भी ध्यान रखना उतना ही ज़रूरी है कि देश के निर्यात में उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहे, ताकि विदेशी पूंजी को आकर्षित करने के लिए अपेक्षित वातावरण बना रहे। इसलिए तीसरी योजना में आयात का सुनियोजित कार्यक्रम बनाना होगा।

लोकतन्त्र में और खासकर एक ऐसी व्यवस्था में जिसमें सार्वजनिक और निजी दोनों क्षेत्रों को साथ-साथ काम करना है और विकास का अपेक्षित ढांचा तैयार करने और उसमें गति लाने के लिए विभिन्न तकनीकों, जैसे जनता को प्रोत्साहित करना और कार्य को नियमित और नियन्त्रित करना आदि, का प्रयोग करने की ज़रूरत होती है, वहां कामों की प्राथमिकताओं के सम्बन्ध में कुछ न कुछ दिक्कतें तो पैदा हुआ ही करती हैं। इस सम्बन्ध में आर्थिक नीति बनाते हुए विभिन्न हितों में सन्तुलन कायम करने की ज़रूरत होती है। लेकिन इस प्रकार की योजनाओं में व्यावहारिक दिक्कतों का सामना करने की और आवश्यकतानुसार परिवर्तन करने की गुंजाइश अधिक होती है जबकि विकास के दूसरे कम लचीले ढांचों में ऐसा करना सम्भव नहीं हो पाता।

ग्रामीण भारत में अगला कदम

डा० बलजीतसिंह
लखनऊ विश्वविद्यालय

उत्तर प्रदेश में ज़मींदारी उन्मूलन की विभिन्न जातियों और वर्गों पर जो प्रतिक्रिया हुई, उसके सम्बन्ध में हाल ही में लखनऊ विश्वविद्यालय के अर्थ-शास्त्र विभाग ने एक जांच की है। यह पहला मौका है जब हमने भूमि सुधार की समस्या के सम्बन्ध में किसानों के विचारों का अध्ययन किया और भूमि के पुनर्वितरण और सहकारी खेती अपनाने की उनकी इच्छा और ज़रूरत के सम्बन्ध में जानकारी इकट्ठी की।

दुःख है कि किसी भी गांव में समुदाय की-सी भावना देखने में नहीं आती। हितों की एकता और भ्रातृत्व की भावना का भी अभाव है। जिन ६ गांवों का अध्ययन किया गया उनमें लगभग ६० भिन्न-भिन्न जातियों के लोग रहते हैं और इनमें भी २८ जातियों में लगभग १७५ गुट हैं? ग्रामीण समाज गुटों में बुरी तरह बंटा हुआ है। समाज विज्ञान की दृष्टि से देखने पर तो इस अध्ययन से यह पता चलता है कि समस्त देहात को एक कुनबा नहीं माना जा सकता, यहां तक कि उन्हें एक समुदाय मानने के लिए भी काफी प्रमाण नहीं मिलते। ग्रामीण समाज का गठन बड़ा ही जटिल है। इसे हम गुटबन्दी वाला समाज कहें तो अधिक उपयुक्त होगा। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि राष्ट्रीय विस्तार सेवा कार्यक्रमों और सामुदायिक विकास में ग्रामीण जनता का सहयोग प्राप्त क्यों नहीं हो सका।

यह गुटबन्दी मुख्यतः भूमि के निजी स्वामित्व और असमान बंट-वारे के कारण है। गुटबन्दी के ऐसे मामलों में से ६४ का ब्यौरेवार अध्ययन

किया गया। इससे यह पता लगा कि इनमें से २४ भूमि सम्बन्धी झगड़ों, ९ ब्याह-शादियों पर हुए झगड़ों, ८ जातिवाद और रीति-रिवाजों, ७ इस कारण कि उनकी पूरी जाति पर ही लोगों का कोप था और उन्हें ठुकराया जाता था, ३ भू-स्वामियों और निम्न जाति के खेतिहर मज़दूरों तथा साझे में खेती करने वालों के आपसी झगड़ों और बाकी यजमानी अधिकारों, वंशगत श्रेष्ठता की भावना वगैरा के कारण उत्पन्न हुए।

ग्रामीण नेतृत्व

इन सभी गुटों की बुनियाद और प्रतिष्ठा एक जैसी नहीं है; कुछ नेता हैं तो दूसरे इनके पीछे चलने वाले। इस तरह पहले वर्ग के गुटों को हम 'श्रेष्ठ' कह सकते हैं। इनके अन्तर्गत ज्यादातर ज़मींदार, ऊंची जातियों के हिन्दू आदि आते हैं। दूसरे वर्ग के गुटों में ज्यादातर भूमिहीन और निम्न जातियों के लोग हैं। गुटों के आपसी समझौतों और तिगड़मबाज़ियों के कारण भूमिहीन किसान व्यक्तिगत रूप में और वर्ग के रूप में भी भू-स्वामियों के चरण चूमते हैं और एक-दूसरे के दुश्मन हो जाते हैं, क्योंकि इससे भू-स्वामियों का मतलब हल होता है। गुट का मुख्य काम अपने सदस्यों की मुकदमेबाज़ी, झगड़ों और लड़ाइयों में मदद करना होता है। इससे एक तो मुकदमेबाज़ी और मार-पीट होती है और दूसरे, समाज में अव्यवस्था फैलती है और व्यक्ति को भी परेशानी उठानी पड़ती है।

ज़मींदारी उन्मूलन

ज़मींदारी उन्मूलन से काश्तकार भूमि का मालिक तो बन गया है लेकिन भूमि का पुनर्वितरण बहुत कम हुआ है। अब भी पट्टेदारी की विभिन्न प्रथाएं प्रचलित हैं और पट्टेदारी के अनुसार ही काश्तकारों में ऊंच-नीच और छोटे-बड़े का भेद-भाव देखने में आता है। राज्य भर की लगभग ७० प्रतिशत खेती-योग्य भूमि में अब भी जोतें बहुत अलाभकारी हैं और केवल ३१ प्रतिशत 'भूमिधर पद्धति' के अन्तर्गत आई हैं, इन्हें अच्छी जोतें कहा जा सकता है और इनको हस्तान्तरित करने का अधिकार भी है।

भूमिहीन किसानों को भूमि सुधार के इस कार्य से बहुत ही कम फायदा हुआ है और आज भी कथित पारिवारिक खेती स्थायी तौर पर रखे गए किराए के मजदूरों द्वारा या फसल में हिस्सा देकर या पूरी की पूरी ज़मीन किराए पर देकर कराई जाती है। इस सम्बन्ध में एक गांव का अध्ययन किया गया। वहां अब खेती योग्य भूमि का लगभग ३५ प्रतिशत हिस्सा या तो किराए पर दिया गया है या उस पर ऐसे मज़दूर खेती करते हैं जो फसल का हिस्सा लेते हैं। एक और गांव में यह देखने में आया कि प्रति चार घरों में एक ने या तो भूमि किराए पर दी हुई थी या फसल में हिस्सा देकर खेती कराते थे। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के आंकड़ों के अनुसार उत्तर प्रदेश के ४४ प्रतिशत ग्रामीण परिवारों के पास कुल भूमि का केवल १ प्रतिशत है, जबकि २ प्रतिशत परिवार ऐसे हैं जिनके पास २५ एकड़ या उससे ज्यादा की जोतें हैं, यानी कुल खेती योग्य भूमि का लगभग छठा हिस्सा है। लगभग ७० प्रतिशत किसान परिवारों के पास ५ एकड़ से भी कम की जोतें हैं।

ज़मींदारी उन्मूलन के बाद काश्तकारों को भूमि का मालिक बना देने से भी ज्यादातर ऊंची जाति के हिन्दुओं को ही लाभ हुआ है जिनकी संख्या गांवों में रहने वाले कुल लोगों से आधी से ज्यादा नहीं कही जा सकती। लेकिन उनके पास गांव की लगभग दो-तिहाई जमीन है जबकि निम्न जाति के हिन्दुओं के पास, जो देहाती आबादी का लगभग पांचवां हिस्सा कहे जा सकते हैं, ३ से ४ प्रतिशत से अधिक खेती योग्य भूमि नहीं है। मुसलमानों की हालत भी इससे अच्छी नहीं कही जा सकती।

भूमि के पुनर्वितरण का प्रश्न केवल आर्थिक दृष्टि से ही महत्वपूर्ण नहीं है, बल्कि सामाजिक न्याय और निम्न जातियों तथा अहिन्दुओं के प्रति न्याय की दृष्टि से भी इसका बहुत महत्व है।

घर घर गरीबी

गांव के लोग बहुत ही गरीब हैं और भूमि सुधार के अब तक किए गए कार्यों से उनकी हालत में कोई खास सुधार नहीं हुआ है। गरीबी इतनी अधिक है कि लगभग गांव के ४५ प्रतिशत परिवार तो गुज़र करने

योग्य भी नहीं हैं (प्रत्येक परिवार का वार्षिक व्यय ६०० रुपए या उससे भी कम है), ५० प्रतिशत इनसे ज़रा ही बेहतर हैं (प्रत्येक परिवार का वार्षिक व्यय ६०० रुपए से १,८०० रुपए तक है) और सिर्फ ५ प्रतिशत ऐसे हैं जो आराम से ज़िन्दगी गुज़ार सकते हैं।

भूमि का आर्थिक और उत्पादक साधन होने के कारण तो महत्व होता ही है, इसके अतिरिक्त इसका मान-प्रतिष्ठा से भी सम्बन्ध है। गांव में रहने वाला व्यक्ति बिना भूमि के बिल्कुल वैसे ही होता है जैसे बिना जात का। भूमिहीन लोगों को ग्रामीण समाज में कोई आदर नहीं मिलता। भूमि की मांग बहुत अधिक है और लगभग हर व्यक्ति, जिसमें गैर-काश्तकार भी शामिल हैं, थोड़ी-बहुत भूमि का मालिक ज़रूर बनना चाहता है।

ज़मीन के कारण झगड़े, शत्रुता और द्वेष इतने अधिक बढ़ गए हैं कि मुकदमेबाज़ी तो लगातार चलती ही रहती है, इसके अलावा दंगे और खून-खराबी भी होती रहती है। ज़मींदारी उन्मूलन से गांव की सामाजिक व्यवस्था में एक शून्यता आ गई है और इससे स्वभावत: समाज-विरोधी उपादानों को प्रोत्साहन मिल रहा है। गांवों में कहीं-कहीं कानून की अवहेलना भी की जा रही है। वर्ग संघर्ष की भावना अब बहुत कुछ उभर रही है और अगर भूमि के सम्बन्ध में कुछ और सुधार नहीं किए गए और खेती को पुन: संगठित नहीं किया गया तो यह खतरा है कि कहीं खुलमखुल्ला वर्ग-संघर्ष शुरू न हो जाए।

भूमि सुधार

जब गांव वालों से भूमि सुधार के तीन मुख्य तरीके बताने के लिए कहा गया तो उनमें से ४१ प्रतिशत ने भूमि के पुनर्वितरण, २४ प्रतिशत ने जोत के अधिकतम सीमा निर्धारण, १९ प्रतिशत ने चकबन्दी, ७ प्रतिशत ने सहकारी खेती और ९ प्रतिशत ने दूसरे मिश्रित सुधारों जैसे कि पट्टेदारी की समानता, भूमि अभिलेख में सुधार आदि के सम्बन्ध में सुझाव दिए। गांव वालों के द्वारा स्वयं जो भूमि सुधार के सुझाव दिए गए उन ४ मुख्य सुझावों में से सहकारी खेती भी एक है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जोत के अधिकतम सीमा निर्धारण, भूमि के पुनर्वितरण और खेती के क्षेत्र में सहकारिता की आवश्यकता अब गांव के लोग भी अनुभव कर रहे हैं। यह तो उन उत्तरों से पता लगा है जो गांव वालों से प्रश्न पूछने पर उन्होंने दिए।

जब गांव वालों के सामने सुधार सम्बन्धी कुछ विशेष प्रस्ताव रखे गए और उनसे राय मांगी गई तो आंकड़े कहीं ज्यादा ऊंचे रहे। नमूने के तौर पर कुछ पश्चिमी ज़िलों के गांवों के लोगों के सामने कुछ सुझाव रखे गए। उनमें से ७४ प्रतिशत जोत के अधिकतम सीमा निर्धारण, ७३ प्रतिशत भूमि के पुनर्वितरण, ५५ प्रतिशत चकबन्दी, ३७ प्रतिशत संयुक्त खेती या सहकारी खेती और ४१ प्रतिशत खेती के कीमती औज़ारों के संयुक्त स्वामित्व सम्बन्धी सहकारी सेवा संस्थाओं के हक में थे। दूसरे प्रकार की सहकारी सेवाओं के सम्बन्ध में ८० प्रतिशत या उससे ज्यादा लोगों ने मत दिए।

भूमि सुधारों के इन सुझावों के विरोधी पक्ष की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस समय ६१ प्रतिशत सहकारी खेती, ५६ प्रतिशत खेती के कीमती औज़ारों के संयुक्त स्वामित्व सम्बन्धी सहकारी संस्थाओं, ३० प्रतिशत चकबन्दी, २० प्रतिशत भूमि के पुनर्वितरण और १५ प्रतिशत जोत के अधिकतम सीमा निर्धारण के विरुद्ध हैं।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि भूमि के पुनर्वितरण और जोत की अधिकतम सीमा निर्धारण को चकबन्दी की अपेक्षा ज्यादा पसन्द किया जाएगा। केवल छोटे-छोटे कामों के लिए बनाई जाने वाली सेवा सहकारी संस्थाओं को भी लगभग एक मत से स्वीकार किया जाएगा।

भावी भूमि सुधार के कार्य के सम्बन्ध में गांव वालों में काफी मतभेद रहा। इस सम्बन्ध में व्यक्ति और गुट दोनों ही अपनी जाति और वर्ग की धारणाओं से काफी प्रभावित थे। इसलिए ऊंची जाति के हिन्दुओं में से ७३ प्रतिशत सहकारी खेती के विरुद्ध थे और निम्न जातियों के हिन्दुओं में से ४३ प्रतिशत और मुसलमान इसके हक में थे। लगभग ६५ प्रतिशत किसान जिनकी आम तौर पर बड़ी-बड़ी जोतें हैं और जो अप्रत्यक्ष तरीकों से खेती कराते हैं, जोत की उच्चतम सीमा निर्धारित

करने के विरुद्ध थे। इसके विपरीत ८० प्रतिशत खेतिहर मज़दूर और काश्तकार इसके पक्ष में थे। इसलिए यह कहना गलत होगा कि भूमि सुधार के किसी प्रस्ताव विशेष का कुल मिला कर गांव वालों ने विरोध किया या उसे स्वीकार किया। उनका मत बहुत कुछ उनकी जाति और वर्ग पर निर्भर करता है।

फिर भी ग्रामीण समाज वर्ग समाज है और वहां भू-स्वामी और ऊंची जाति के लोग भूमिहीन और नीची जाति के लोगों पर नाजायज़ दबाव डालते हैं, इसलिए पहले-पहल देखने पर तो ऐसा लगता है कि सारा का सारा गांव ही इन सब भूमि सुधारों के खिलाफ़ है, जो ज़्यादातर के सुझाए हैं या जिन्हें ज़्यादातर चाहते हैं।

सब बातों को ध्यान में रखते हुए यह अनुमान लगाया गया है कि उत्तर प्रदेश में पारिवारिक जोत की उच्चतम सीमा १५ एकड़ निर्धारित कर दी जाए। खास तौर पर इससे कम से कम बलिदान और साधनों का अधिक-से-अधिक उचित बंटवारा, इन दो सिद्धान्तों की पूर्ति होती है। जोत की सीमा निर्धारण के सम्बन्ध में जिन बातों का ध्यान रखना चाहिए वे निम्न हैं— (१) उपलब्ध साधनों का उचित बंटवारा; (२) अधिक रोज़गार; (३) आर्थिक विकास की गति में अधिक से अधिक वृद्धि; (४) सामाजिक न्याय और कम से कम त्याग, (५) संगठन; और (६) व्यावहारिक उपयोग। संक्षेप में पारिवारिक जोत वह कहलाएगी जिसमें भूमि किराए पर देकर या फसल में हिस्सा देकर या मज़दूर नौकर रख कर खेती नहीं कराई जा सकेगी।

उत्तर प्रदेश में ४० एकड़ की अधिकतम सीमा लगभग २०,००० जोतों पर ही लागू होगी। इस तरह पुनर्वितरण और सहकारी खेती के लिए ५८,००० एकड़ या कुल खेती-योग्य भूमि के १.३ प्रतिशत से अधिक उपलब्ध नहीं हो सकेगा। औसतन प्रति गांव ६ एकड़ से भी कम भूमि पड़ती है। स्पष्टत: इसका कोई व्यावहारिक उपयोग नहीं किया जा सकता। और अगर जोत की अधिकतम सीमा १५ एकड़ रख दी जाएगी तो उससे कुल खेती योग्य भूमि की १० प्रतिशत यानी ४० लाख एकड़ से भी ज्यादा भूमि प्राप्त हो सकेगी। इससे राज्य के प्रत्येक दो

या तीन गांवों के बीच १०० एकड़ का एक सहकारी फार्म बनाया जा सकेगा ।

सहकारी खेती

विभिन्न देशों में जो आंकड़े उपलब्ध हैं, उनके आधार पर एक ओर उत्पादकता और जोत के आकार और दूसरी ओर खेती के तरीकों और प्रति एकड़ उपज में कोई निश्चित सम्बन्ध नहीं पाया गया। लेकिन हमारे देश में पारिवारिक जोतें और छोटी-छोटी अलाभकारी जोतें होने के कारण दो योजनाओं में लगातार खेती में भारी पूंजी लगाने और सिंचाई की सुविधाएं उपलब्ध कराने के बावजूद भी कोई प्रगति नहीं हुई। १९५३-५४ में ६ करोड़ ९० लाख टन अनाज की उपज हुई थी। अभी तक वही रिकार्ड है। यह सर्वेक्षण १९५८-५९ के आंकड़े मिलने से वहुत पहले किया गया था। लगभग ५ वर्ष पहले गेहूं की प्रति एकड़ औसत उपज लगभग ७०० पौण्ड थी। अब वह लगभग ६०० पौण्ड है। सिंचाई की सुविधाओं की दृष्टि से कुल क्षेत्र कई सालों से लगभग उतना ही, यानी ५,५०,००० एकड़ ही है और अब भी पहली योजना में रखे गए लक्ष्य से लगभग २५ प्रतिशत कम है। इसलिए अगर खेती से आय नहीं वढ़ी तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। १९४८-४९ के मूल्यों के आधार पर १९४९-५० में प्रति व्यक्ति आय १९२ रु० थी। १९५६-५७ में भी १९५ रुपए ही रही।

सहकारी खेती अब इच्छा की चीज़ नहीं बल्कि ज़रूरत की चीज़ है। इसी से भूख और दुर्भिक्ष का मुकाबला किया जा सकता है और खेती के क्षेत्र में गुज़ारे की हालत पैदा की जा सकती है। साथ ही सहकारिता में सच्चा सहयोग तभी प्राप्त हो सकता है जब लोग स्वेच्छा से और प्रेम-भाव से आगे आएं। इस समय काश्तकारों को सहकारी खेती अपनाने के लिए जो प्रेरणाएं दी जा रही हैं वे बहुत कमज़ोर हैं। किसान सहकारी खेती स्वेच्छा से और विना किसी दबाव के अपनाएं, इसके लिए उनको प्रोत्साहन देने और प्रेरित करने की योजना वहुत होशियारी से बनानी होगी। इन सब से ज़्यादा ज़रूरत इस बात की होगी कि भूमि

सुधार के विभिन्न तरीकों जैसे जोत के अधिकतम सीमा-निर्धारण, भूमि के पुनर्वितरण, चकबन्दी और सहकारी संस्थाओं की स्थापना को सहकारी खेती के कार्यक्रम का अभिन्न अंग बनाना होगा। व्यक्तिगत रूप से तो ये सुधार विरोधी दिशाओं की ओर ले जाएंगे। उदाहरण के लिए भूमि के पुनर्वितरण से पहले चकबन्दी कर देने से व्यक्तिगत खेती को दृढ़ता प्राप्त होती है। दूसरी ओर अगर जोत की सीमा निर्धारित कर दी जाए और सहकारी संस्थाओं में के सदस्य और संभव सदस्य (जो व्यक्तिगत रूप से सहकारिता से अलग तो हो ही सकते हैं) किसानों की भूमि की चकबन्दी कर दी जाए तो भी सहकारी खेती पर इसका बहुत बुरा प्रभाव पड़ेगा।

यह भी उतना ही ज़रूरी है कि जोत की अधिकतम सीमा निर्धारण कर देने से जो भूमि उपलब्ध हो, उसे उन लोगों में पुनः वितरित कर दिया जाए जो संयुक्त खेती में अपनी भूमि देने के लिए तैयार हैं। इसी तरह सेवा सहकारी संस्थाओं को चाहिए कि सहकारी संस्थाओं में शामिल होने वाले किसानों में विरल और वांछित साधनों को वितरित करने की नीति अख्तियार करें। खेती को समाजवादी रूप देने के मार्ग को सरल बनाने में राजकीय व्यापार और अन्न की उगाही भी सहायक हो सकती है। कुछ व्यावहारिक कठिनाइयां भी हैं जैसे (१) इस सम्बन्ध में कानून बनाना, प्रशासनिक कार्यक्रमों को तैयार करना और उन्हें लागू करना; (२) सहकारी खेती शुरू करने के लिए वित्तीय और दूसरे वास्तविक साधनों की आवश्यकता; (३) प्रशिक्षित कर्मचारियों की भारी मांग; और (४) देश भर में काफ़ी बड़े पैमाने पर नई व्यवस्था चलाने के सम्बन्ध में अनुभव की कमी। इनके कारण हमें सारे कार्यक्रम को बहुत लचीला रखना होगा और उसे काफी लम्बी अवधि में फैला देना होगा।

हाट-व्यवस्था और ग्रामीण उद्योग-धन्धे

बी० जी० वर्गीज
'टाइम्स ऑफ इण्डिया' के विशेष संवाददाता

हालांकि अभी दूसरी योजना के दो साल बाकी हैं, लेकिन तीसरी योजना पर विचार शुरू हो गया है। यह बात ठीक भी लगती है, क्योंकि योजना एक निरन्तर प्रक्रिया है और इसमें आज और कल की समस्याएं एक-दूसरे से जुड़ी हुई होती हैं।

किसी भी योजना को बनाते हुए दो बातों का ध्यान रखना पड़ता है—एक तो आवश्यकताओं का और दूसरे साधनों का। आवश्यकताएं साधनों से कहीं ज्यादा होती हैं, इसलिए उनमें सन्तुलन स्थापित करना होता है। यह सन्तुलन प्राथमिकताएं निश्चित करके और संगठन सम्बन्धी ऐसा ढांचा तैयार करके, जिसमें उपलब्ध साधनों का अधिक-से-अधिक उपयोग किया जा सके, स्थापित किया जा सकता है।

अब प्रश्न यह है कि अगली योजना में प्राथमिकता किस काम को दी जाए। मेरे विचार में जिसे हम सरकारी शब्दावली में "स्वावलम्बी" अर्थ-व्यवस्था कहते हैं वह केवल शहरी उद्योगों का विकास करके या भारी और बड़ी मशीनें बनाने वाले उद्योग लगा कर, कायम नहीं की जा सकती। देश के ८० प्रतिशत लोग गांवों में रहते हैं और अगर भारत को तरक्की करनी है, तो प्रगति को गांवों से ही वेगबल प्राप्त होना चाहिए। यहां यह ध्यान रखना होगा कि केवल खेती के विकास पर ही बल नहीं देना है बल्कि ग्रामीण विकास पर देना है।

सामुदायिक विकास कार्यक्रमों के होते हुए भी खेती के उत्पादन को बढ़ाने के वर्तमान कार्यक्रम ग्रामीण विकास की समस्या से कुछ दूर हटते जा रहे हैं। इस बात की ओर अभी यथेष्ट ध्यान नहीं दिया जा

रहा है कि ये दोनों काम एक साथ चलने चाहिएं। खेती के उत्पदान को अब इसलिए महत्व दिया जा रहा है ताकि शहरों की आवश्यकताएं पूरी हो सकें और साथ ही खाद्यान्न विदेशों से मंगाने पर जो विदेशी मुद्रा खर्च हो रही है, वह बचाई जा सके और फिर शहरी औद्योगिक कार्यक्रमों पर खर्च की जा सके। यह बहुत कुछ सीमित दृष्टिकोण है, इसलिए इसके परिणाम भी सीमित निकलेंगे।

खेती के उत्पादन को और अधिक महत्व दिया जाना चाहिए। इसको ग्रामीण विकास की बुनियाद मानना चाहिए।

हाट-व्यवस्था आवश्यक

सरकार की वर्तमान नीतियों का लक्ष्य विस्तार कार्यक्रम शुरू करके, या भूमि सुधार के विभिन्न तरीके अपना कर लोगों में खेती के प्रति दिलचस्पी पैदा करना और किसी न किसी तरह खेती का उत्पादन बढ़ाना है। खेती के विस्तार के इस कार्यक्रम के साथ हाट-व्यवस्था का कार्यक्रम भी बनाया जाए। खाद्य समस्या पर तीन साल से चल रही बहस के दौरान अभी तक हाट-व्यवस्था की ओर ध्यान नहीं दिया गया है। साथ ही अगर खेती के क्षेत्र में उन्नति करनी है, तो यह जरूरी है कि छोटी-छोटी जोत वाले किसानों के नए वर्ग स्थापित करने की बजाय कुछ लोगों को खेती के काम से हटा लिया जाए। खेती से हटाए जाने वाले लोगों को गांवों में ही दूसरे विकास कार्यक्रमों जैसे भवन-निर्माण, सड़क-निर्माण, उद्योग-धन्धों और हाट-व्यवस्था आदि में लगाया जाए। गांवों के फालतू लोगों को स्थानीय साधनों का विकास और उपयोग करने में लगाया जाए।

शायद यह कहना गलत नहीं होगा कि आज खेती के उत्पादन को सड़कों, अनाज के गोदामों, परिवहन और हाट-व्यवस्था के विकास के द्वारा भी उतना ही प्रोत्साहन मिल सकता है जितना कि विस्तार कार्यक्रमों द्वारा मिलता है। किसी किसान से यह कहना कि ज्यादा पैदा करो, या उसे ज्यादा पैदा करके दिखाना या ज्यादा पैदा करने में उसकी मदद करना तब तक लाभदायक साबित नहीं हो

सकता जब तक कि उसे ऐसा करने के लिए वास्तविक रूप से प्रोत्सा-हित न किया जाए। कोई भी किसान ज्यादा मेहनत करना या ज्यादा पूंजी लगा कर बाज़ार में बेचने के लिए अतिरिक्त फ़सल पैदा करना तब तक पसन्द नहीं करेगा, जब तक कि उसे यह उम्मीद न हो कि वह अपने बढ़े हुए उत्पादन को बाज़ार में बेच सकेगा, और उसे अच्छा मूल्य मिल जाएगा।

'दूसरे शब्दों में यूं कहा जा सकता है कि अतिरिक्त अन्न का तब तक कोई फ़ायदा नहीं, जब तक कि हाट-व्यवस्था ठीक न हो और हाट-व्यवस्था तभी ठीक हो सकती है, जब बाज़ारों का विस्तार किया जाए। बाज़ार का विकास तब माना जाएगा जब चीज़ों की मांग बढ़ेगी और हाट-व्यवस्था की सुविधाएं होंगी। ज्यों-ज्यों ग्राम जनता उन्नति करती है और खुशहाल होती जाती है त्यों-त्यों चीज़ों की मांग अधिक होती है और अधिकतर जनता गांवों में ही रहती है। इसका अर्थ यह हुआ कि खेती के विकास का सम्बन्ध ग्रामीण विकास से है।

औद्योगिक विकास भी ग्रामीण विकास के साथ ही होता है, क्योंकि उद्योगों को भी ज्यादा उत्पादन का आर्थिक दृष्टि से पूरा लाभ तभी मिल सकता है जबकि उनके माल की देश में ही स्थायी रूप से काफी मांग हो। और यह मांग ग्रामीण क्षेत्रों से ही उत्तरोत्तर अधिक होनी चाहिए क्योंकि अधिकतर लोग गांवों में ही रहते हैं।

नारेबाज़ी और इक्की-दुक्की कोशिश

खेती का उत्पादन बढ़ाने के काम को अपनी बारी में तभी बहुत अधिक प्रोत्साहन मिल सकता है, अगर उत्पादन का लक्ष्य राष्ट्रीय स्तर पर न रख कर राज्य, ज़िला, खण्ड, गांव और यहां तक कि परिवार के स्तर पर रखा जाए। जब तक यह नहीं होता, तब तक यह लक्ष्य नारेबाज़ी या इक्की-दुक्की कोशिशों में ही खो कर रह जाएगा। यदि देखा जाए तो अन्ततोगत्वा किसानों के व्यक्तिगत प्रयत्नों से ही राष्ट्रीय लक्ष्य की पूर्ति होती है। फ़िलहाल ऐसा कोई तरीका नहीं है

रहा है कि ये दोनों काम एक साथ चलने चाहिएं। खेती के उत्पदान को अब इसलिए महत्व दिया जा रहा है ताकि शहरों की आवश्यकताएं पूरी हो सकें और साथ ही खाद्यान्न विदेशों से मंगाने पर जो विदेशी मुद्रा खर्च हो रही है, वह बचाई जा सके और फिर शहरी औद्योगिक कार्यक्रमों पर खर्च की जा सके। यह बहुत कुछ सीमित दृष्टिकोण है, इसलिए इसके परिणाम भी सीमित निकलेंगे।

खेती के उत्पादन को और अधिक महत्व दिया जाना चाहिए। इसको ग्रामीण विकास की बुनियाद मानना चाहिए।

हाट-व्यवस्था आवश्यक

सरकार की वर्तमान नीतियों का लक्ष्य विस्तार कार्यक्रम शुरू करके, या भूमि सुधार के विभिन्न तरीके अपना कर लोगों में खेती के प्रति दिलचस्पी पैदा करना और किसी न किसी तरह खेती का उत्पादन बढ़ाना है। खेती के विस्तार के इस कार्यक्रम के साथ हाट-व्यवस्था का कार्यक्रम भी बनाया जाए। खाद्य समस्या पर तीन साल से चल रही बहस के दौरान अभी तक हाट-व्यवस्था की ओर ध्यान नहीं दिया गया है। साथ ही अगर खेती के क्षेत्र में उन्नति करनी है, तो यह जरूरी है कि छोटी-छोटी जोत वाले किसानों के नए वर्ग स्थापित करने की बजाय कुछ लोगों को खेती के काम से हटा लिया जाए। खेती से हटाए जाने वाले लोगों को गांवों में ही दूसरे विकास कार्यक्रमों जैसे भवन-निर्माण, सड़क-निर्माण, उद्योग-धन्धों और हाट-व्यवस्था आदि में लगाया जाए। गांवों के फालतू लोगों को स्थानीय साधनों का विकास और उपयोग करने में लगाया जाए।

शायद यह कहना गलत नहीं होगा कि आज खेती के उत्पादन को सड़कों, अनाज के गोदामों, परिवहन और हाट-व्यवस्था के विकास के द्वारा भी उतना ही प्रोत्साहन मिल सकता है जितना कि विस्तार कार्यक्रमों द्वारा मिलता है। किसी किसान से यह कहना कि ज्यादा पैदा करो, या उसे ज्यादा पैदा करके दिखाना या ज्यादा पैदा करने में उसकी मदद करना तब तक लाभदायक साबित नहीं हो

सकता जब तक कि उसे ऐसा करने के लिए वास्तविक रूप से प्रोत्साहित न किया जाए। कोई भी किसान ज्यादा मेहनत करना या ज्यादा पूंजी लगा कर बाज़ार में बेचने के लिए अतिरिक्त फ़सल पैदा करना तब तक पसन्द नहीं करेगा, जब तक कि उसे यह उम्मीद न हो कि वह अपने बढ़े हुए उत्पादन को बाज़ार में बेच सकेगा, और उसे अच्छा मूल्य मिल जाएगा।

दूसरे शब्दों में यूं कहा जा सकता है कि अतिरिक्त अन्न का तब तक कोई फ़ायदा नहीं, जब तक कि हाट-व्यवस्था ठीक न हो और हाट-व्यवस्था तभी ठीक हो सकती है, जब बाज़ारों का विस्तार किया जाए। बाज़ार का विकास तब माना जाएगा जब चीज़ों की मांग बढ़ेगी और हाट-व्यवस्था की सुविधाएं होंगी। ज्यों-ज्यों आम जनता उन्नति करती है और खुशहाल होती जाती है त्यों-त्यों चीज़ों की मांग अधिक होती है और अधिकतर जनता गांवों में ही रहती है। इसका अर्थ यह हुआ कि खेती के विकास का सम्बन्ध ग्रामीण विकास से है।

औद्योगिक विकास भी ग्रामीण विकास के साथ ही होता है, क्योंकि उद्योगों को भी ज्यादा उत्पादन का आर्थिक दृष्टि से पूरा लाभ तभी मिल सकता है जबकि उनके माल की देश में ही स्थायी रूप से काफी मांग हो। और यह मांग ग्रामीण क्षेत्रों से ही उत्तरोत्तर अधिक होनी चाहिए क्योंकि अधिकतर लोग गांवों में ही रहते हैं।

नारेबाज़ी और इक्की-दुक्की कोशिश

खेती का उत्पादन बढ़ाने के काम को अपनी बारी में तभी बहुत अधिक प्रोत्साहन मिल सकता है, अगर उत्पादन का लक्ष्य राष्ट्रीय स्तर पर न रख कर राज्य, ज़िला, खण्ड, गांव और यहां तक कि परिवार के स्तर पर रखा जाए। जब तक यह नहीं होता, तब तक यह लक्ष्य नारेबाज़ी या इक्की-दुक्की कोशिशों में ही खो कर रह जाएगा। यदि देखा जाए तो अन्ततोगत्वा किसानों के व्यक्तिगत प्रयत्नों से ही राष्ट्रीय लक्ष्य की पूर्ति होती है। फ़िलहाल ऐसा कोई तरीका नहीं है

जिससे किसी परिवार, गांव, खण्ड, यहां तक कि ज़िले में किए गए प्रयास का सही-सही पता लग सके।

खेती के लक्ष्यों को अलग-अलग निश्चित कर देने के साथ ही विस्तार, ऋण, बीज और खाद आदि मुहैया करने की सुविधाएं भी देनी होंगी। इसलिए खेती के क्षेत्र में अब से कहीं अधिक ब्यौरेवार योजनाएं बनाने की ज़रूरत है। विकास के इस कार्यक्रम में सेवा सहकारी संस्थाओं को निश्चित ही एक महत्वपूर्ण काम करना है। लेकिन खेती को प्रचलित करने के मार्ग में कुछ बाधाएं ज़रूर उपस्थित होंगी। संयुक्त खेती में उसके लिए कोई आकर्षण नहीं है।

सेवा सहकारी संस्थाएं

हां, सेवा सहकारी संस्थाएं स्थापित करने में किसी खास विरोध का सामना नहीं करना पड़ेगा। क्योंकि देश के लगभग सभी भागों में अब लोगों को सेवा सहकारी संस्थाओं से होने वाले लाभों का पता चल गया है। खतरा सिर्फ सेवा सहकारी संस्थाओं के संगठन के सम्बन्ध में देश भर के लिए या प्रत्येक राज्य के लिए कोई विशेष ढांचा निश्चित करने में है। प्रदेश-प्रदेश और ज़िले-ज़िले की परिस्थितियां भिन्न-भिन्न हैं। यह बात स्थानीय अधिकारियों पर छोड़ दी जाए कि वे अपने क्षेत्र की परिस्थितियों को देखते हुए सहकारी संस्थाओं का उचित ढंग से संगठन करें।

गांवों में सहकारी संस्थाएं संगठित करने का महत्व एक और कारण से भी है। सहकारी संस्थाएं धीरे-धीरे गांवों में स्थानीय प्रतिभा का संगठन कर सकेंगी और वहां के लोगों को ग्रामीण विकास के दूसरे कार्यक्रमों, जैसे सड़क-निर्माण, अन्न के गोदाम बनाने, परिवहन और पानी की सुविधाएं जुटाने, शिक्षा और उद्योगों आदि में लगा सकेंगी।

ग्रामीण उद्योग-धंधे

ग्रामीण उद्योगों की समस्या बहुत महत्वपूर्ण है। उनकी ओर भी खास ध्यान देने की ज़रूरत है। वर्तमान औद्योगिक ढांचे में शहरी

उद्योग (बड़े पैमाने के और छोटे पैमाने के) के लिए ही व्यवस्था है। ज्यादातर ग्रामोद्योग तकनीक और दक्षता की दृष्टि से पिछड़े हुए हैं और उन्हें आर्थिक सहायता की जरूरत रहती है। लोग रोजगार के लिए गांव से शहर की ओर भागते रहते हैं। लोगों की शहरों की ओर भागने की प्रवृत्ति से शहरों और गांवों के रहन-सहन के स्तर के फर्क का पता लग जाता है। यह खाई तभी पाटी जा सकती है, जब आधुनिक उद्योग गांवों में चालू किए जाएं। इससे शहरों और देहातों का भेद-भाव दूर होगा और ग्रामीण विकास को प्रोत्साहन मिलेगा, साथ ही देश के उद्योग भी उन्नति करेंगे। हमें एक ऐसे समाज का विकास करना होगा, जिसमें कृषि और उद्योग साथ-साथ चलें।

देहातों में उद्योग खोले जाने के बाद उनके लिए बिजली और परिवहन की सुविधाएं जुटाने की जरूरत होगी। गांवों में बिजली ले जाने के काम को प्राथमिकता दी जानी चाहिए। जब तक बिजली का प्रवन्ध हो तब तक पनचक्कियों, डीज़ल से चलने वाले इन्जनों और गोबर-गैस यन्त्रों से काम चलाया जा सकता है।

औद्योगिक बस्तियाँ

सरकार को यह भी चाहिए कि शहरों में या शहरों के आस-पास औद्योगिक बस्तियां बसाने की बजाय गावों में बसाने की नीति अपनाए। मेरे विचार में शायद ऐसा करना मशीन निर्माण की क्षमता रखने वाले कुछ भारी उद्योगों में ज्यादा पूंजी लगाने की अपेक्षा ज्यादा लाभदायक साबित होगा। यदि उचित प्रोत्साहन और अवसर दिया जाए तो स्थानीय उद्योगों का तेजी से अभिनवीकरण किया जा सकता है। उदाहरण के लिए कोयम्बतूर में सूती वस्त्र बनाने वाली मध्यम दर्जे की मशीनें तैयार करने वाले कारखाने ने जिसका नाम 'टेक्सटूल' है, एक छोटी धमन भट्टी (५० मन प्रति दिन की क्षमता वाली) तैयार की। इसका डिज़ाइन भी यहीं बनाया गया। इसी कारखाने में एक इलेक्ट्रिक आर्क फरनेस, एक आयल फरनेस और अलाय इस्पात बनाने और रोल करने के लिए एक छोटी रोलिंग मिल भी बनाई गई। मैं

यहां यह उदाहरण सिर्फ यह बताने के लिए दे रहा हूं कि बहुत से काम बिना भारी पूंजी लगाए या बहुत संख्या में कर्मचारी नियुक्त किए भी हो सकते हैं। जहां तक कच्चे माल का सम्बन्ध है, वह काफी मात्रा में उपलब्ध है ।

मेरे विचार में तीसरी पंचवर्षीय योजना में मुख्य ध्यान, ग्रामीण विकास की ओर दिया जाना चाहिए । गांवों के बेकार लोगों को खेती से हटा कर संगठित किया जाए और स्थानीय विकास कार्यक्रमों में लगाया जाए। सड़क और गोदाम निर्माण के कार्यों, छोटे सिंचाई कार्यों और स्थानीय उद्योगों में गांवों के लाखों लोगों को रोज़गार मिल सकता है और इस तरह वहां की बेरोज़गारी की समस्या बहुत कुछ हल हो जाएगी। इन कार्यक्रमों में ज़्यादा पूंजी की नहीं बल्कि ज़्यादा मज़दूरों की ज़रूरत होती है । इसलिए इनसे अनुचित वित्तीय भार भी पड़ने की आशा नहीं है। इसके विपरीत इनसे लाभ जल्दी और काफी मात्रा में होता है। कोसी बांध पर काम करने के लिए भारत सेवक समाज ने श्रम सहकारी संस्थाएं संगठित कीं और हज़ारों किसानों को उनका सदस्य बनाया । इससे स्पष्ट हो जाता है कि गांवों में ऐसे कार्यक्रमों के लिए बहुत गुंजाइश है ।

मेरा सुझाव यह नहीं है कि औद्योगिक विकास की ओर कम ध्यान दिया जाए । मेरा कहना यह है कि एक तो शहरी और ग्रामीण पूंजी विनियोग में अब की अपेक्षा अधिक सन्तुलन रखा जाए। दूसरे, बड़े और छोटे पैमाने के उद्योगों में अधिक सन्तुलन हो । तीसरे, जहां कहीं सम्भव हो, ग्रामीण क्षेत्रों में छोटी-छोटी औद्योगिक बस्तियां बसाई जाएं। तीसरी योजना में औद्योगीकरण के कार्यक्रम में खाद, जहाज़, ट्रक और भारी बिजली का सामान और ऐसा दूसरा सामान, जो निर्यात किया जा सके, बनाने वाले कारखानों को प्राथमिकता दी जाए।

उत्पादन पहले—बाकी सब बाद में

समाजवादी ढांचे की कुछ सैद्धान्तिक बातों पर ज़्यादा ध्यान देने की बजाय उत्पादन और उत्पादकता को अधिक महत्व दिया जाए।

बंटवारा तो तभी उचित हो सकता है जब उत्पादन अधिक हो। अभी पिछले कुछ सालों में छोटे औद्योगिकों का एक नया वर्ग उठ खड़ा हुआ है। इन लोगों में संगठन और तकनीक का सुन्दर योग दिखाई देता है। देश के भावी औद्योगिक विकास में इन नए औद्योगिकों को महत्वपूर्ण हिस्सा अदा करना होगा। औद्योगिक सम्बन्धों में सब से अधिक महत्व उत्पादकता को दिया जाना चाहिए। इससे मालिकों और मज़दूरों दोनों के उत्तरदायित्व बढ़ जाते हैं। माल का निर्यात करना हमारे लिए बहुत ज़रूरी है, इसलिए दक्ष, कम खर्च और प्रतिस्पर्धी उद्योगों को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए।

तकनीकी प्रशिक्षण की ओर भी अपेक्षाकृत अधिक ध्यान देने की ज़रूरत है। सामाजिक सेवाओं की ओर कुल मिला कर अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए। सरकार को चाहिए कि पुनः खेती योग्य बनाई गई भूमि और ऐसी भूमि जिसमें सिंचाई की नई सुविधाएं दी गई हों, पर सरकारी फ़ार्म खोले। विस्तार कर्मचारियों के प्रशिक्षण के लिए इन फ़ार्मों को प्रयोग, अनुसन्धान, प्रदर्शन और प्रशिक्षण केन्द्र बनाना चाहिए।

तीसरी योजना पर विचार करते समय हमें इस बात का भी ध्यान रखना होगा कि हमारा पौण्ड पावना अब बहुत कम रह गया है और इस योजना के अन्तर्गत हम पर विदेशों का कर्ज़ भी बढ़ गया है। इसलिए आगे चल कर विदेशी मुद्रा की दिक्कत और बढ़ जाएंगी। विकास की वर्तमान गति को बनाए रखने के लिए भी हमें काफी मात्रा में विदेशी सहायता की ज़रूरत होगी। इसलिए तीसरी योजना को ऐसा रूप देना होगा जिसमें विदेशी मुद्रा की बजाय रुपयों के विनियोग से काम चल सके और साथ ही उसको ऐसी दिशा देनी होगी जिससे हमारा निर्यात बढ़े और हमें आयात कम-से-कम करना पड़े।

अगली योजना का आकार या लक्ष्य चाहे जो हो, वह तब तक कामयाब नहीं हो सकती, जब तक कि उसे दूसरी योजना की अपेक्षा जनता का अधिक समर्थन प्राप्त न हो। साथ ही हर स्तर पर अधिक त्याग और लगन से कार्य करने वाले राजनैतिक नेता उत्पन्न करने की भी ज़रूरत है।

शिक्षा पद्धति में क्या कमियाँ हैं

के० जी० सैयदेन

सचिव, शिक्षा मन्त्रालय

राजनीतिज्ञों, अखबारवालों और साधारण जनता के लिए शिक्षा पद्धति की आलोचना करना एक आम बात बन गई है। वे इसके उद्देश्यों, तरीकों और कामयाबियों की कड़ी निन्दा करते हैं। लोग शिक्षा के स्तर के गिर जाने के बारे में भी शिकायत करते हैं। मैं भी अपने देश की शिक्षा पद्धति की कमियों और कमज़ोरियों को जानता हूं और यह जानते हुए मैं इन आलोचकों से लड़ नहीं सकता। लेकिन मैं इतना ज़रूर कहूंगा कि हमें स्थिति को स्वस्थ दृष्टिकोण से देखना चाहिए। बेसब्री अच्छी चीज़ है, अगर इससे काम जल्दी हो जाए। आलोचना भी अच्छी चीज़ है, अगर यह कोशिश दूसरों के काम पर न हो बल्कि कभी अपनी ज़िम्मेदारियों के ऊपर भी हो।

अध्यापकों पर कितना निर्भर है ?

सबसे पहले मैं शिक्षा संस्थाओं में काम करने वालों की तरफ से कुछ कहना चाहूंगा। देश में इस वक्त जितनी और जैसी शिक्षा दी जा रही है, उससे हम सभी असन्तुष्ट हैं। इसके लिए हम दोष 'शिक्षा प्रणाली' को देते हैं। यह साफ ज़ाहिर है कि जिस तरह के अध्यापक होंगे, शिक्षा उसी तरह की मिलेगी। अगर अध्यापक योग्य हैं, ईमानदार हैं और लगन से काम कर रहे हैं तो शिक्षा अच्छी होगी और विद्यार्थी अच्छा चरित्र और अच्छा दिमाग लेकर निकलेंगे। लेकिन अगर अध्यापक पूरी तरह योग्य नहीं हैं या पूरी तरह प्रशिक्षित नहीं हैं या ऐसे हैं कि उन्हें दूसरा कोई रोज़गार नहीं मिल सका, इसलिए अध्यापक

बन गए, तो उनके लिए अच्छा काम करके दिखाना मुश्किल होगा। दु:ख के साथ कहना पड़ता है कि बहुत से अध्यापक दूसरी तरह के हैं। ऐसा क्यों है ? क्या इसके लिए दोष केवल शिक्षकों पर लादा जा सकता है ?

वेतन कम और सुरक्षा बिल्कुल नहीं

इसकी एक खास वजह यह है कि अध्यापकों को जो हम कम से कम वेतन देते हैं, वह चपरासियों के बराबर होता है। उसके ऊपर कुछ देते हैं तो क्लर्कों और असिस्टेंटों के बराबर होता है। क्या ऐसी परिस्थितियों में हम शिक्षा संस्थाओं में ऐसे आदमियों को खींच सकते हैं जिनकी योग्यता चपरासियों, क्लर्कों और असिस्टेंटों से अधिक हो? दूसरी बात यह है कि ज्यादातर अध्यापक प्राइवेट स्कूलों में पढ़ाते हैं जहां कि नौकरियों की सुरक्षा का सवाल ही नहीं उठता और उनकी थोड़ी-सी तनख्वाह भी नियमित रूप से नहीं दी जाती। क्या हम ऐसी हालत में यह उम्मीद कर सकते हैं कि वे अध्यापक जो संत-साधुओं की तरह नि:स्वार्थ और आदर्शवादी नहीं हैं, अपने काम में पूरा ध्यान लगाएंगे ?

बहुत से आलोचक यह कहेंगे कि अधिकारी वर्ग यह सब क्यों सहता है ? मैं उन महानुभावों को इस तस्वीर का दूसरा रुख दिखाना चाहूंगा, ऐसा रुख जिसे अक्सर वे देख नहीं पाते या देखना नहीं चाहते !

क्या शिक्षा अधिकारियों के यह मानने से कि अध्यापकों का वेतन बढ़ना चाहिए, या लोगों के ऐसा चाहने से यह किया जा सकता है ? जब तक कि जनता की शक्तिशाली विचारधारा इस मांग का समर्थन न करे, कुछ नहीं किया जा सकता। अब संसद में और राज्य विधान सभाओं में इस तरह की आवाज़ उठने लगी है। जितनी यह आवाज़ उठी है, आपने देखा होगा कि उसके मुताबिक तनख्वाहों में बढ़ोतरी भी हुई है।

शिक्षक बड़ा या पटवारी

पुराने ज़माने में गुरु को कोई वेतन नहीं दिया जाता था, लेकिन

वे अपने जीवन को शिक्षा देने के लिए समर्पित कर देते थे। इस तरह समाज में उनकी बहुत इज्जत थी। क्या हमारा आज का समाज आज के शिक्षक को उतना सम्मान देता है जितना सम्मान उसको दिया जाना चाहिए? हम जानते हैं कि उनका सम्मान करने में कुछ खर्च नहीं पड़ता लेकिन दृष्टिकोण में परिवर्तन तो लाना पड़ता है! मैं इन आलोचकों से पूछूंगा कि उनमें से कितने ऐसे हैं जो अपने दिल पर हाथ रख कर यह कह सकते हैं कि वे एक पटवारी या एक पुलिसमैन या लगान वसूल करने वाले अफसर से ज्यादा एक शिक्षक की इज्जत करते हैं? अगर हम शिक्षकों को न तो पूरा वेतन दे सकते हैं और न इज्जत तो वे आपको आसमान से तारे नहीं तोड़ कर ला देंगे।

एक बड़ी समस्या

हमारे सामने एक बड़ी समस्या साधनों की है। हमारे साधन सीमित हैं। इसकी वजह से हमारी बहुत-सी योजनाएं पूरी नहीं हो रहीं। हम चाहते हैं कि १४ साल तक हर बच्चा अच्छी शिक्षा पा सके। जो इनमें से योग्य हैं, वे ऊंची शिक्षा और विश्वविद्यालय की शिक्षा भी पा सकें। प्रौढ़ों की शिक्षा आदि के लिए भी हम सुविधाएं जुटाना चाहते हैं। तकनीकी जानकारी देने वाली संस्थाओं को भी हम बढ़ावा देना चाहते हैं, क्योंकि योजना के बड़े-बड़े कामों के लिए हमें तकनीकी जानकारी की बहुत ज़रूरत है।

राष्ट्रीय विकास में शिक्षा का स्थान

दूसरी पंचवर्षीय योजना में प्राइमरी शिक्षा के लिए केवल ८९ करोड़ रुपयों की व्यवस्था की गई है। यह रकम सभी राज्यों के लिए है और पांच साल के लिए है। सारे देश में शिक्षा को मुफ्त और अनिवार्य करार देने के लिए ३२० करोड़ रुपए की शुरू में ज़रूरत पड़ेगी और उसके बाद हर साल ७२ करोड़ रुपए की ज़रूरत होगी। चुपड़ी और दो दो तो नहीं चल सकतीं। अच्छे शिक्षक नियुक्त कीजिए या शिक्षा संस्थाओं के लिए इमारतें और दूसरी साधन-सामग्री इकटठी कीजिए

—कुछ भी कीजिए उसके लिए धन की आवश्यकता पड़ती है। जब तक शिक्षा के काम को प्रमुखता नहीं दी जाती और हमारे कुल साधन नहीं जुटाए जाते, यह समस्या हल नहीं हो सकती। मैं देश की दूसरी समस्याओं को नज़रन्दाज़ नहीं कर रहा हूं। लेकिन मैं यह महसूस करता हूं कि केवल अध्यापकों पर ज़िम्मेदारी नहीं लादी जा सकती। वे तो वैसा ही करेंगे जैसा उनकी परिस्थितियां उन्हें इजाज़त देंगी।

एक सवाल यह उठता है कि क्या अपने सीमित साधनों में हम अधिक काम नहीं कर सकते? असल में आज़ादी मिलने के बाद काम किए भी गए हैं। प्राइमरी स्कूलों को बुनियादी तालीम का केन्द्र बनाया गया है, शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिए अधिक सुविधाएं जुटाई गई हैं, बहूद्देश्यीय और हायर सेकण्डरी स्कूलों का संगठन किया गया है।

मैं यह मानता हूं कि जो कुछ किया गया है, वह बहुत काफ़ी नहीं है। हमें पूरी तरह आज़ाद हुए मुश्किल से दस साल गुज़रे हैं। इन दस सालों में बहुत मुश्किलें आईं। इस समय में हर तरह के पिछड़ेपन को दूर कर देना आसान नहीं था। शिक्षा में तो समय लगता है, जिस तरह तमाम सामाजिक आन्दोलनों में जो मनुष्य में देर तक रहने वाला परिवर्तन पैदा कर सकते हैं, समय लगता है। शिक्षक मूर्तिकार या इंजीनियर या किसान की तरह नहीं है क्योंकि उसके पास ऐसा मसाला नहीं है जिसे देखा और छूआ जा सके। उसे तो बच्चों और बड़ों के दिल और दिमाग पर असर डालना होता है। इसलिए जब हम कोई ऐसी प्रगति नहीं पाते जिसे देखा या छूआ जा सके तो इसका यह मतलब नहीं कि प्रगति हुई ही नहीं।

तीसरी योजना—कुछ बुनियादी प्रश्न

बी० के० मदान
एक्सिक्यूटिव डायरेक्टर, रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया

तीसरी योजना के बारे में जिन प्रश्नों पर बहस की जा रही है, वे लगभग उसी तरह के हैं जैसे तीन-चार साल पहले दूसरी योजना के बारे में हमारे दिमाग में उछल-कूद मचा रहे थे। योजना में कितनी पूंजी लगाई जानी चाहिए? योजना के साधन कैसे ढूंढ़े जाएं? विकास का ढांचा क्या हो? संगठन सम्बन्धी समस्याएं क्या हैं? आर्थिक स्थिति पर असह्य बोझ डाले बिना, ताकि योजना काल में आर्थिक शिथिलता पैदा न हो, विकास की रफ़्तार कैसे बढ़ाई जाए? तीसरी योजना राजनैतिक नेतृत्व पर कैसा उत्तरदायित्व डालती है? उत्पादन सम्बन्धी लक्ष्यों के साथ-साथ विकास के लक्ष्य किस प्रकार पूरे किए जा सकते हैं? उत्पादकता और कार्य कुशलता चाहते हुए बेरोज़गारी की समस्या को कैसे हल किया जाए? यहां मैं इन तमाम प्रश्नों का हल तो नहीं सुझा सकता, लेकिन कुछ बहुत महत्वपूर्ण विषयों पर थोड़ा-सा प्रकाश अवश्य डालना चाहता हूं।

योजना का आकार

यह तो स्वयं सिद्ध है कि तीसरी योजना बहुत बड़ी होनी चाहिए। यह इसलिए बड़ी होनी चाहिए कि हमारी तेज़ी से बढ़ती हुई जन-संख्या की आवश्यकताएं पूरी हो सकें। यह इसलिए भी बड़ी होनी चाहिए कि पहली और दूसरी योजनाओं में विकास की रफ्तार में जो तेज़ी पैदा हो चुकी है, उसको बनाए रखा जा सके।

प्रश्न उठता है कि योजना कितनी बड़ी होनी चाहिए? बहुत बार

कहा जा चुका है कि तीसरी योजना में १०,००० करोड़ रुपया खर्च किया जाना चाहिए। (दूसरी योजना बनाते समय भी यह कहा गया था कि तीसरी योजना ६,६०० करोड़ रुपए की होनी चाहिए)। यह १०,००० करोड़ रुपया निजी और सार्वजनिक क्षेत्रों में आर्थिक विकास के लिए खर्च किया जाएगा। कई बार इस रकम का दूसरी योजना के सार्वजनिक क्षेत्र में खर्च की जाने वाली (४,८०० करोड़ रुपए) की रकम से मुकाबला किया गया है, लेकिन यह मुकाबला गुमराह कर देने वाला है। दूसरी योजना की जिस रकम से इसका मुकाबला किया जाना चाहिए, वह है ६,२०० करोड़ रुपए। इसमें दूसरी योजना में पूंजी विनियोग का ३,८०० करोड़ रुपया (दूसरी योजना में कुल किया जाने वाला खर्च शुरू में ४,८०० करोड़ रुपए रखा गया था और बाद में ४,५०० करोड़ रुपया कर दिया गया) और निजी क्षेत्रों में लगाया गया अनुमानतः २,४०० करोड़ रुपया शामिल है। इस प्रकार १०,००० करोड़ रुपया केवल दूसरी योजना में खर्च किए जाने वाले ६,२०० करोड़ रुपए पर ६० प्रतिशत वृद्धि है।

हालांकि मैं तीसरी योजना के आकार के सम्बन्ध में कोई अनुमान नहीं सुझाना चाहता, लेकिन मैं एक-दो सुझाव ऐसे जरूर देना चाहता हूं जिससे १०,००० करोड़ रुपए की यह योजना पहुंच के नजदीक मालूम होगी। एक बात तो यह कि इन अनुमानों के अनुसार निजी क्षेत्र में लगाई जाने वाली पूंजी का ठीक ब्यौरा नहीं रखा गया और अन्त में दूसरी योजना में निजी क्षेत्र में लगाई जाने वाली पूंजी की रकम अनुमान से बहुत ज्यादा सिद्ध होगी। हो सकता है कि निजी क्षेत्र में दूसरी योजना के अन्त तक ३,००० करोड़ रुपया खर्च किया जा चुका हो। इसलिए इस क्षेत्र में तीसरी योजना में ४,००० करोड़ रुपए लगाने का लक्ष्य रखा जा सकता है।

पूंजी का प्रश्न

सार्वजनिक क्षेत्रों की योजना का ध्यान आते ही हमें योजना के लिए उपलब्ध साधनों पर भी विचार करना पड़ता है। कई बार यह कहा गया

है कि पहले यह सोचना चाहिए कि कितनी पूंजी लगानी है और उसके बाद साधनों पर विचार करना चाहिए क्योंकि पूंजी विनियोग से भी साधन उत्पन्न होंगे। लेकिन अगर समस्या इतनी आसान होती तो हम पूंजी विनियोग के काफी ऊंचे लक्ष्य निर्धारित कर लेते और यह चिन्ता न करते कि यह धन कहां से आएगा। स्पष्ट है कि स्थिति इतनी सरल नहीं है।

मोटे तौर पर देखा जाए तो हमारे प्रतिवर्ष के उत्पादन से ही पूंजी लगाने के लिए साधन उपलब्ध होंगे। इससे उपभोग की वृद्धि पर नियन्त्रण रखना पड़ेगा। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि उपभोग बढ़ेगा नहीं या उसे घटाया जाए; इसका अभिप्राय तो यह है कि उपभोग में होने वाली वृद्धि उत्पादन में होने वाली वृद्धि से कम रहनी चाहिए। एक गरीब समाज में उपभोग पर नियन्त्रण रख कर विकास के साधन प्राप्त करने की सम्भावनाएं बहुत कम हैं क्योंकि जितना उपभोग जीवन के लिए आवश्यक होता है कुल उत्पादन उससे बहुत अधिक नहीं होता और देश के बहुत बड़े भाग के लिए उपभोग के स्तर के कुछ और ऊपर उठने की बहुत अधिक आवश्यकता है। वयस्क मताधिकार द्वारा उत्पन्न स्थिति में योजना के लिए लोकतन्त्रात्मक स्वीकृति प्राप्त करने के लिए भी यह ज़रूरी है कि जीवन स्तर में तत्काल कुछ उन्नति हो।

विदेशी सहायता

योजनाबद्ध विकास के हमारे इस युग में देश के आन्तरिक साधनों के साथ-साथ विदेशी साधनों से भी मदद लेनी होगी। ये विदेशी साधन कर्ज़ों, सहायता और निजी क्षेत्र में पूंजी लगाने के रूप में होंगे। उनके कारण उपभोग पर एकदम कोई रोक लगाने की ज़रूरत नहीं होगी।

मेरा एक दूसरा सुझाव है। इस सुझाव के दो भाग हैं। पहला यह कि इस आकार की योजना को पूरा करने के लिए जितनी विदेशी सहायता का आम तौर पर अनुमान लगाया जाता है, उससे ज्यादा की ज़रूरत होगी। दसरा यह कि लम्बे अर्से तक एक विशेप प्रकार के

विदेशी साधन आवश्यक होंगे जो कि आगे चल कर हमें स्वयं अपना विकास करने में सहायक हो सकेंगे।

इस योजना के बड़े आकार को देखते हुए शायद आन्तरिक साधनों की कमी को पूरा करने के लिए भी विदेशी सहायता की ज़रूरत हो। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि स्थानीय मुद्रा प्राप्त करने के लिए भी विदेशी मुद्रा की आवश्यकता हो सकती है। अमेरिका के पी० एल० ४८० कार्यक्रम के अन्तर्गत यह बात स्पष्ट हो गई है कि अमेरिकन गेहूं और दूसरी वस्तुओं की प्राप्ति से स्थानीय साधन उपलब्ध हो सकते हैं।

१०,००० करोड़ रुपए की इस योजना में से २,५०० करोड़ रुपया विदेशी सहायता के रूप में मिलना चाहिए, जिसमें से ५०० करोड़ रुपए से हम पिछले कर्ज़े का भुगतान करेंगे और बाकी को योजना में लगा देंगे। यह याद रखना चाहिए कि दूसरी योजना में हम पौण्ड पावना की अपनी जमा पूंजी में से ५५० करोड़ रुपए खर्च कर चुके हैं और अब तीसरी योजना में उसमें से और अधिक खर्च करने की गुंजाइश नहीं रह गई है। २,५०० करोड़ रुपए की संख्या का उल्लेख करते समय मैं उस सहायता को भी बीच में शामिल कर रहा हूं जिसकी हमें पी० एल० ४८० कार्यक्रम के अन्तर्गत आगे मिलने की आशा है।

अधिकाधिक ग्राम्य साधन

मान भी लिया जाए कि हमें विदेशों से काफी सहायता मिल जाएगी और यह भी मान लिया जाए कि निजी क्षेत्रों में काफी धन लगेगा, फिर भी अगर १०,००० करोड़ रुपए की योजना को पूरा करना है तो हमें अपने आन्तरिक साधनों को कर लगा कर और विभिन्न तरीकों से रुपया मांग कर इस्तेमाल करना होगा।

घाटे की अर्थ-व्यवस्था की सीमा बांध देनी चाहिए, नहीं तो उससे और अधिक आर्थिक विषमता फैलेगी।

प्राविधिक स्तर पर योजना के साधनों का हल ढूंढ़ना काफ़ी

आसान है, लेकिन किसी भी हल के लिए साहसपूर्ण राजनैतिक नेतृत्व, प्रशासन में कार्य-कुशलता और दृढ़ता से कार्य-पालन जिसमें बड़े पैमाने पर जनता का सहयोग भी प्राप्त हुआ हो और योजना के कार्यक्रम को समझा गया हो, की ज़रूरत है। विशेष रूप से यह ज़रूरी है कि स्थानीय संस्थाओं को बड़ी-बड़ी ज़िम्मेदारियां दी जाएं क्योंकि वे जनता से ज्यादा करीब हैं और वे स्थानीय योजना कार्यों के लिए स्थानीय साधन ज़्यादा अच्छी तरह इस्तेमाल कर सकती हैं।

मशीन पहले या अन्न

तीसरी योजना के बारे में जो विचार उठते हैं, उनमें एक यह है कि अन्न पहले होना चाहिए या मशीनें। इन मशीनों में वे मशीनें भी शामिल हैं जो दूसरी मशीनों का निर्माण करेंगी। जहां ये दोनों विचार-धाराएं आपस में टकराने लगें और प्राथमिकता का प्रश्न उठे, वहां मुझे यह कहना है कि पहले हमें अन्न में आत्म-निर्भर होना चाहिए और फिर मशीनों में।

मशीनों के बारे में आत्म-निर्भर होना काफी मुश्किल और खर्चीला काम है और शायद अधिक उन्नत देशों से मशीनें आयात करते रहना कम खर्च सावित होगा। इसका यह मतलब बिल्कुल नहीं है कि तीसरी योजना में मशीनें बनाने वाले उद्योग की तरक्की के बारे में कोई काम ही न किया जाए। इसका सिर्फ़ यह अर्थ है कि इस क्षेत्र में आत्म-निर्भर होना एक अत्यावश्यक लक्ष्य नहीं होना चाहिए।

यह खुशी की बात है कि रोज़गार और जन-कल्याण के साथ साथ गलती से जो कार्य-कुशलता की कमी और उत्पादन की कमी का जोड़ बैठाया जाता था, वैसा अब नहीं किया जाता। औद्योगिक क्षेत्र में अब ऐसे हल ढूंढ़े जा रहे हैं जिनमें रोज़गार देने के साथ-साथ उत्पादकता भी बढ़ाई जा सके, जन कल्याण के साथ-साथ कार्य-कुशलता बढ़ाई जा सके। और जहां एक काम करने के लिए दूसरे की उपेक्षा न की जाए। यह इस बात के साक्षी हैं कि जन-कल्याण और रोज़गार की व्यवस्था से आगे चल कर कार्य-कुशलता और उत्पादन बढ़ता है।

बढ़ती हुई आबादी और हमारी योजनाएं

डी० एस० सावकर
अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष

संसार के अत्यधिक गरीब लोगों में भारतीय भी हैं। अतः देश की प्रत्येक योजना का लक्ष्य जनता के रहन-सहन का स्तर ऊंचा करना है। आर्थिक विकास की गति को शिथिल करने में जनसंख्या की वृद्धि सदा बहुत बड़ा कारण रही है। देश के आर्थिक विकास के लिए प्रति व्यक्ति आय बढ़ाना अनिवार्य है। पहली योजना में राष्ट्रीय आय में १८ प्रतिशत वृद्धि हुई, लेकिन आबादी के बढ़ जाने से प्रति व्यक्ति आय में ११ प्रतिशत ही वृद्धि रह गई। इसी प्रकार दूसरी योजना में राष्ट्रीय आय को २५ प्रतिशत बढ़ाने का लक्ष्य है, किन्तु जनसंख्या की वृद्धि को देखते हुए प्रति व्यक्ति आय में १८ प्रतिशत वृद्धि ही सम्भव है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि यदि हम लोगों का रहन-सहन ऊंचा करना चाहते हैं, तो हमें आर्थिक विकास की गति जनसंख्या वृद्धि की गति से तेज़ करनी होगी।

भारत की आबादी लगभग ४० करोड़ है। इतने लोगों के अच्छी तरह से भरण-पोषण के लिए भी हमारे पास पर्याप्त साधन नहीं हैं। साथ ही आबादी निरन्तर बढ़ती ही जा रही है। इधर लोगों को अधिक डाक्टरी सुविधाएं भी उपलब्ध हुई हैं। इससे मृत्यु-संख्या में कमी हुई है। पर फिलहाल बच्चों की पैदाइश में कमी होने के आसार नज़र नहीं आते।

खेती योग्य ज़मीन और औद्योगिक साधनों की कमी के कारण यह अनिवार्य हो जाता है कि किसी-न-किसी प्रकार इस गति से आबादी का बढ़ना रोका जाए।

देहातों में आबादी की समस्या

मूलत: भारत खेतिहर देश है । पंचवर्षीय योजनाओं में देश के औद्योगीकरण पर विशेष ज़ोर दिया जा रहा है । लेकिन अभी इसमें काफ़ी समय लगेगा । तब तक हमें खेती पर ही अधिक निर्भर करना होगा । देश के अधिकांश लोग गांवों में रहते हैं । गांवों की आबादी में वृद्धि होने पर खेती पर निर्भरता और बढ़ेगी । खेती योग्य ज़मीन के सीमित होने से यह समस्या और भी जटिल हो जाएगी ।

इस समय यह महसूस किया जा रहा है कि खेतों पर जितने लोग काम कर रहे हैं, उनमें कमी कर देने पर भी पैदावार में कोई कमी नहीं होगी । ऐसी स्थिति में गांवों की आबादी बढ़ने से हानि ही होगी ।

यह सच है कि खेती के तरीकों में सुधार, उर्वरकों के प्रयोग, विस्तृत क्षेत्र में सिचाई की व्यवस्था से खेतों में काम करने के लिए कुछ अधिक लोगों की ज़रूरत होगी । पर इस ज़रूरत और आबादी की वृद्धि का समान होना असम्भव है । आबादी की वृद्धि ज़रूरत से कहीं अधिक होगी ।

हम यह कह सकते हैं कि अधिक कारखानों के चालू हो जाने से लोगों को रोज़गार मिलने से यह समस्या हल हो जाएगी । पर अभी यह देखना है कि वर्तमान कारखानों से शहरों की बढ़ती हुई आबादी की रोज़गार की समस्या हल होती है या नहीं । इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि गांवों के लोगों को रोज़गार देने के लिए देहातों में पर्याप्त छोटे और घरेलू उद्योग खोले जाएं ।

तीसरी योजना और रोज़गार

पहली योजना में लगभग २५ लाख लोगों को रोज़गार नहीं मिल सका था । अनुमान था कि दूसरी योजना में लगभग १ करोड़ और लोग रोज़गार की मांग करेंगे । दूसरी योजना में लगभग ६५ लाख लोगों को नए कामों में लगाने का लक्ष्य था । लगता है कि दूसरी योजना के दौरान यह सम्भव नहीं हो सकेगा । इसका मतलब होगा कि तीसरी योजना में रोज़गार की समस्या और भी जटिल हो जाएगी । यह समस्या केवल नए-नए धंधे चालू करने से ही हल हो सकती है ।

इसके अतिरिक्त भारत को अपनी आर्थिक और आबादी की समस्या का हल अपने साधनों से ही करना चाहिए, न कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और प्रवास के द्वारा। आज के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर लगे प्रतिबन्धों और खेती से अधिक उद्योगों को बढ़ाने की प्रवृत्ति को देखते हुए यह कहना कठिन है कि भारत जैसा विशाल देश अपने औद्योगिक माल के निर्यात से पर्याप्त मात्रा में विदेशों से अनाज प्राप्त कर सकेगा या नहीं।

बढ़ती हुई आबादी के कारण योजनाओं की मुख्य समस्या लोगों की ज़रूरत के लिए पर्याप्त मात्रा में अनाज उपलब्ध करना है। आज अनाज की जितनी आवश्यकता है, उससे अधिक अनाज पैदा करने से ही यह समस्या सुलझाई जा सकती है।

परिवार-नियोजन

देश की इतनी अधिक आबादी और उसकी निरन्तर वृद्धि को रोकने के लिए, विवश हो, परिवार नियोजन की बात सोचनी पड़ती है। पर इसकी सफलता के लिए काफी समय की आवश्यकता है।

लोगों को परिवार नियोजन के तरीकों की जानकारी कराने के लिए हस्पतालों में विशेष प्रबन्ध किए गए हैं और नए-नए केन्द्र भी खोले गए हैं। देश का आर्थिक विकास काफी हद तक परिवार-नियोजन की सफलता पर निर्भर है।

देहाती क्षेत्रों की जनशक्ति का उपयोग

योजना आयोग देहाती क्षेत्रों में अधिक रोज़गार की व्यवस्था करके वहां की जन-शक्ति को सामुदायिक सम्पत्ति के निर्माण में लगाने के सम्बन्ध में विचार करता रहा है। यह सभी जानते हैं कि वर्तमान ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में बहुत से अकुशल लोगों को सारा साल रोज़गार नहीं मिल पाता और आबादी बढ़ने के साथ-साथ यह समस्या दिन-ब-दिन गम्भीर ही होती जा रही है। हमें दो मुख्य लक्ष्य प्राप्त करने हैं—पहला, उन सभी लोगों के लिए जो काम करने के इच्छुक हों, और ज्यादा काम उपलब्ध कराया जाए; दूसरा, उपलब्ध जन-शक्ति का खेती का उत्पादन बढ़ाने और सामुदायिक सम्पत्ति के निर्माण में यथासम्भव अधिक-से-अधिक उपयोग किया जाए। इस प्रकार अर्द्ध-विकसित अर्थ-व्यवस्था में पूंजी निर्माण का बहुत महत्व हो जाता है।

वर्षा पर निर्भर करने और जोतें बहुत छोटी-छोटी और बिखरी हुई होने के कारण देश के ज्यादातर हिस्सों में कृषि अर्थ-व्यवस्था पूर्ण लाभकारी नहीं है और उसमें किसानों को सारा साल लगातार काम के लिए उपयुक्त सुविधाएं भी नहीं मिल पातीं। इसलिए उपलब्ध जन-शक्ति के उपयोग की समस्या को स्थायी रूप से सुलझाने का एक तरीका यह है कि वैज्ञानिक कृषि को सर्वत्र अपनाया जाए और ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था को बहु-मुखी और दृढ़ बनाया जाए। ग्रामीण क्षेत्रों में स्थायी तौर पर रोज़गार के अवसरों का विकास करने के लिए पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत निम्न मुख्य तरीके अपनाने चाहिएं :

(१) **सिंचाई की अधिक सुविधाएं जुटा कर और खेती के उन्नत तरीके, जिनमें मिश्रित खेती भी शामिल है, अपना कर, खेती को भरपूर बनाया जाए।**

(२) ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था का पड़ोसी शहरी केन्द्रों की बढ़ती हुई जरूरतों से सम्बन्ध स्थापित किया जाए, और

(३) गांवों में विधायन (प्रासेसिंग) और अन्य उद्योग-धन्धों का तेजी से विकास करके रोजगार के ढांचे को बहुमुखी बनाया जाए ।

जनशक्ति का बेहतर उपयोग करने के लिए यह विचार किया जाता है कि प्रत्येक देहाती क्षेत्र में निर्माण का एक व्यापक कार्यक्रम बनाया जाए। प्रत्येक विकास खण्ड के निर्माण कार्यक्रम बनाना उसकी पंचवर्षीय योजना का एक महत्वपूर्ण अंग है । खण्ड की योजना, जो आगे जाकर गांवों की योजनाओं में विभक्त हो जाती है, के अन्तर्गत विभिन्न संस्थाओं द्वारा किए जाने वाले ये सभी काम शामिल हैं—सामुदायिक विकास योजना के अन्तर्गत बजट में शामिल किए गए कार्यक्रम; राज्य की सामान्य योजना में खेती, पशु-पालन, सहकारिता आदि के अन्तर्गत आने वाले कार्यक्रम; 'अधिक अन्न उपजाओ' योजनाओं में शामिल छोटे सिंचाई-कार्य; कृषि और राजस्व योजनाएं और बड़े और मध्यम दर्जे के सिंचाई योजना-कार्य; सड़क विकास आदि । खण्ड के ये कार्यक्रम प्रत्येक गांव में उपलब्ध होने चाहिएं और गांव में रहने वाले प्रत्येक परिवार को इनके बारे में अच्छी तरह पता होना चाहिए ।

इन निर्माण कार्यक्रमों में साधारणतया पांच प्रकार के काम शामिल होंगे :

(१) राज्य और स्थानीय संस्थाओं की योजनाओं में वे निर्माण-कार्य सम्मिलित हैं जिनमें अकुशल और अर्द्धकुशल कर्मचारियों की आवश्यकता होती है ।

(२) वे निर्माण-कार्य जो कानून के अन्तर्गत बाध्यताओं के अनुसार समस्त समुदाय या उन लोगों द्वारा किए जाते हैं जिन्हें उनसे लाभ होगा ।

(३) स्थानीय निर्माण-कार्य, जिनमें स्थानीय जनता श्रम प्रदान करती है और जिन्हें सरकार की ओर से कुछ सहायता मिलती है ।

(४) ऐसी योजनाएं जिनके द्वारा ग्राम समुदाय के लिए लाभकारी सम्पत्ति का निर्माण किया जा सके।

(५) अतिरिक्त निर्माण-कार्य; जिन क्षेत्रों में किसी कारण बेरोजगारी बहुत अधिक है, वहां कुछ अतिरिक्त निर्माण कार्य किए जाएंगे।

उपर्युक्त निर्माण-कार्यों का संगठन एक-एक मद के अनुसार निम्न प्रकार से करना है :

मद १ के निर्माण-कार्य

राज्यों की योजनाओं में बहुत से ऐसे निर्माण-कार्य शामिल हैं जिनमें अकुशल या अर्द्ध-कुशल कर्मचारियों की काफी संख्या में ज़रूरत होती है; जैसे सिंचाई और बाढ़ नियन्त्रण कार्य; भूमि के पुनरुद्धार की योजनाएं जिनमें जल की निकासी और खारे वाली भूमि (जैसे कि लखनऊ के बंथरा फार्म में है) के पुनरुद्धार की योजनाएं शामिल हैं; वनारोपण और भूमि-संरक्षण और सड़कों आदि की योजनाएं।

यह स्मरण होगा कि पहली पंचवर्षीय योजना (जुलाई, १९५१) के प्रारूप में योजना आयोग ने उपर्युक्त निर्माण-कार्यों के सम्बन्ध में जनता का सहयोग प्राप्त करने पर बहुत अधिक बल दिया था—

> "योजना के अन्तर्गत ऐसे निर्माण-कार्य रखे गए हैं जिनका देश की अर्थ-व्यवस्था के लिए बहुत अधिक महत्व है और जिन पर बहुत अधिक धन खर्च होगा। ये निर्माण-कार्य तब तक सफलतापूर्वक कार्यान्वित नहीं किए जा सकते जब तक कि राज्य सरकारें इन निर्माण-कार्यों के प्रति जनता में जोश पैदा न करें और जनता का पूरा और व्यापक सहयोग प्राप्त न हो। इस सम्बन्ध में सबसे जरूरी बात यह है कि लोग इन कामों को अपना काम समझें और इनको पूरा करने के लिए विशेष त्याग के लिए तैयार हों।"

अक्तूबर, १९५१ में योजना आयोग ने राज्य सरकारों को एक पत्र भेजा था जिसमें यह सुझाव दिया था कि सिंचाई के लिए नहरें बनाने और

इसी प्रकार के दूसरे निर्माण-कार्य करने के लिए प्रत्येक गांव या गांवों के एक समूह के लोग एकत्र करके सहकारी संस्थाएं बनाई जाएं और उनको अपने-अपने क्षेत्र के काम सौंप दिए जाएं। यह भी बताया गया था कि इस व्यवस्था से निम्न लाभ होंगे :

(१) नहरों पर खर्च होने वाली भारी रकम का गांव वालों को लाभ हो सकेगा और वह कृषि-सुधार के लिए उपलब्ध हो सकेगी, क्योंकि ये नहरें सहकारी आन्दोलन के अन्तर्गत आ जाएंगी। राज्य सरकारों के लिए यह सम्भव होगा कि वे ऐसे क्षेत्रों में ऐसी प्रशासनिक व्यवस्था संगठित करें जिसमें लोगों को मितव्ययता और पूंजी विनियोग की आदत पड़े।

(२) इतने बड़े आकार के निर्माण-कार्यों को कार्यान्वित करने के लिए दूर-दूर के लोग आपस में सहयोग करेंगे तो इससे उनमें दूसरे कामों के लिए सहयोग करने की भावना भी पैदा होगी और उनका जीवन-स्तर ऊंचा होगा। राज्य के दूसरे भागों के लिए ये क्षेत्र उदाहरण प्रस्तुत करेंगे।

(३) नहरों के निर्माण के इस कार्य के लिए जो संगठन बनाया जाएगा, वह उनकी देखभाल और पानी के बंटवारे का प्रबन्ध कर सकेगा और साथ ही इस बात की भी देखभाल कर सकेगा कि पानी व्यर्थ खर्च नहीं किया जाता।

बहुद्देश्यीय बड़े और मध्यम दर्जे के सिंचाई कार्यों के सम्बन्ध में यह ज़रूरी है कि खर्च का अनुमान लगाने, खर्च की मंजूरी लेने, छोटी-छोटी नहरों और खेतों की नालियां बनाने की योजना तैयार करने, उनके सम्बन्ध में सर्वेक्षण करने और उन्हें परस्पर मिलाने; और नहरें बनाने के लिए ज़मीन प्राप्त करने आदि में जो अनावश्यक देरी होती है, उसे रोका जाए और काम को तेज़ी से आगे बढ़ाया जाए। पहली और दूसरी पंचवर्षीय योजनाओं में इस वर्ग के कार्यों पर लगभग १,४०० करोड़ रुपए खर्च होने का अनुमान है। जब ये कार्य पूरे हो जाएंगे तो यह आशा है कि ३८० लाख एकड़ ज़मीन की सिंचाई हो सकेगी जबकि पहली योजना के शुरू

में केवल २२० लाख एकड़ ज़मीन की सिंचाई की व्यवस्था थी। इन कार्यों पर पहली दो योजनाओं में कुल मिला कर लगभग ८०० करोड़ रुपए खर्च किए जाएंगे। इतना अधिक खर्च हो जाने पर यह ज़रूरी हो जाता है कि किसी भी हालत में इनसे अधिक-से-अधिक लाभ उठाया जाए और नई उपलब्ध होने वाली सुविधाओं का हर स्तर पर पूरा इस्तेमाल किया जाए। यह परम्परागत विचार कि कार्य पूरे कर दिए जाएं और यह बात किसानों पर छोड़ दी जाए कि वे धीरे-धीरे उन सुविधाओं का इस्तेमाल करें, अब बहुत पुराना हो चुका है। वर्तमान हालतों में ऐसा करने से काम नहीं चलेगा। इन निर्माण-कार्यों की योजनाएं बनाते समय चार प्रक्रियाओं का ध्यान रखना चाहिए जो परस्पर सम्बन्धित हैं और जिनको एक साथ चलना है; ये हैं :—(१) पानी जमा करने के लिए बांध बनाना; (२) सरकारी एजेंसियों द्वारा नहरों और उनकी शाखाओं का निर्माण। ये नहरें इस तरह बनानी चाहिएं जिससे प्रत्येक गांव तक पानी पहुंच सके और गांव वाले उसे आसानी से प्राप्त कर सकें; (३) खेतों में पानी पहुंचाने के लिए नालियां बनाने का काम कार्यक्रम के अनुसार निश्चित समय पर पूरा किया जाना चाहिए ताकि ज्यों ही नहरों में पानी आने लगे त्यों ही वहां की प्रत्येक एकड़ भूमि जिसकी सिंचाई सम्भव हो सकती है, तुरन्त सींची जा सके। ये नालियां वे लोग बनाएंगे जिन्हें उनसे लाभ होना है; (४) खेती की तकनीकों की उन्नति की जाए ताकि खेती से अधिकतम उपज प्राप्त की जा सके। योजना बनाने और उसको कार्यान्वित करते समय इन कार्यों में होशियारी से समन्वय स्थापित करना चाहिए ताकि प्रत्येक सोपान में निर्माण-कार्य का अधिकतम लाभ उठाया जा सके।

अगर उपर्युक्त विभिन्न वर्गों के योजना-कार्यों में प्रत्येक क्षेत्र के अधिक-से-अधिक लोगों को रोज़गार दिलाना है तो निर्माण-कार्यों को कार्यान्वित करने के वर्तमान तरीकों में कुछ परिवर्तन करने होंगे। इन निर्माण-कार्यों के खर्च की व्यवस्था विभिन्न विभागों के बजटों में होती है, इसलिए ये आम तौर पर ठेकेदारों के माध्यम से कराए जाते हैं, और स्थानीय खण्ड संगठन से उनका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। यह प्रस्ताव है कि जहां तक मुमकिन हो ये कार्य स्थानीय खण्ड संगठन जिसमें पंचायत समिति और

ग्राम पंचायत भी शामिल हैं, के सहयोग से किए जाएं। जहां कहीं मुमकिन हो एक या इससे अधिक श्रम सहकारी संस्थाएं बना ली जाएं। ये श्रम सहकारी संस्थाएं बराबर औज़ार मुहैया कर सकेंगी, सम्बन्धित विभाग से काम ठेके पर ले सकेंगी और कार्य को पूरा करने के लिए विभिन्न गांवों से कार्यकर्ताओं के ऐसे दल भेज सकेंगी, जिन्हें काम करने के लिए अपने गांव से ज्यादा दूर न जाना पड़े।

कार्यक्रम के इस अंग को और अधिक बलशाली बनाने के लिए कुछ और सुझाव इस प्रकार हैं :—

(१) योजना ऐसी बनाई जाए जिसमें निर्माण-कार्यों को उन दिनों में कार्यान्वित किया जा सके जब गांव में अधिक काम नहीं होता। ये योजनाएं काफी पहले तैयार की जाएं ताकि उस क्षेत्र के खण्ड विकास संगठनों से समन्वय हो सके ;

(२) गांव वालों द्वारा कार्यान्वित किए जाने वाले निर्माण-कार्यों में उन्हें गांव की दर पर ही मज़दूरी दी जाए ;

(३) भारत सेवक समाज जैसी स्वयंसेवी संस्थाओं, पंचायत और सहकारी संस्थाओं जैसे जन-संगठनों की सेवाओं का पूरा-पूरा उपयोग किया जाए ;

(४) खण्ड के अन्तर्गत किए जाने वाले निर्माण-कार्यों को कार्यान्वित करने का उत्तरदायित्व खण्ड विकास अधिकारी और खण्ड के दूसरे कर्मचारियों पर छोड़ा जाए ;

(५) जहां ठेकेदारों के बजाय गांव वालों से काम कराया जाए, वहां उन्हें साधारण से कुछ अधिक समय दिया जाए और कितना काम हुआ यह तुरन्त देखा जाए और उन्हें मज़दूरी भी तुरन्त दी जाए ;

(६) अगर यह नज़र आए कि किसी विशेष निर्माण-कार्य के लिए जिस तरह के कर्मचारियों की ज़रूरत है, वे गांवों में काफी संख्या में उपलब्ध नहीं हैं, तो कार्य शुरू करने से पहले ही दूसरी जगह से कर्मचारी बुला लिए जाएं ; और

(७) निर्माण-कार्य को तेज़ी से आगे बढ़ाने के लिए प्रशिक्षित

कर्मचारियों का एक छोटा-सा दस्ता तैयार किया जा सकता है और अगर आवश्यकता हो तो कभी-कभी उससे काम लिया जा सकता है। ऐसा दस्ता संगठित करने की सम्भावनाओं के सम्बन्ध में खण्ड के स्तर पर जांच की जाए और अगर जरूरत महसूस हो, तभी ऐसे दस्ते का संगठन किया जाए।

मद २ के निर्माण-कार्य

भारत के बहुत से हिस्सों में बहुत से कर्त्तव्य जैसे खेतों में बनाई गई नालियों की देख-रेख आदि, काफी अर्से पहले ही स्वीकार कर लिए गए हैं, और उनका उल्लेख राजस्व अभिलेख में आ गया है। इन कर्त्तव्यों को और अधिक बल प्रदान करने के लिए और स्थानीय संस्थाओं द्वारा उन्हें लागू कराने के लिए योजना आयोग राज्य सरकारों को यह सुझाव देता रहा है कि सिंचाई और बांध बनाने और भूमि संरक्षण की योजनाओं के अन्तर्गत उनसे लाभ उठाने वाले किसानों के कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में कानून बनाए जाएं। बम्बई, मद्रास, आंध्र प्रदेश और मैसूर में तो पहले ही ऐसे कानून मौजूद हैं जिनके अन्तर्गत छोटे सिंचाई योजना-कार्यों से लाभ उठाने वाले किसानों के लिए यह आवश्यक है कि वे उनकी देख-रेख करें। अगर वे ऐसा नहीं कर पाते तो उस स्थिति में सरकार यह काम करती है और उन लोगों से काम की सारी लागत वसूल कर लेती है। खेतों में नालियों के निर्माण के सम्बन्ध में बम्बई राज्य में तो १८७९ से ही आवश्यक कानून मौजूद हैं। केरल, मद्रास, आंध्र प्रदेश और मैसूर में यद्यपि इस सम्बन्ध में कोई कानून नहीं है, तथापि योजना-कार्यों से जिन किसानों को लाभ होगा, उनसे यह आशा की जाती है कि वे खेतों में पानी ले जाने के लिए नालियां बनाएं। उड़ीसा में हाल में ही इस सम्बन्ध में कुछ कानून बनाए गए हैं और मैसूर में भी इस सम्बन्ध में एक विधेयक तैयार किया गया है। जहां तक मेड़ बांध कर भूमि क्षरण को रोकने का सम्बन्ध है, बम्बई में पहले से ही कानून मौजूद हैं। मद्रास में इस सम्बन्ध में १९४९ से कानून मौजूद हैं जो आंध्र प्रदेश पर भी लागू होते हैं और हाल ही में मद्रास

राज्य ने एक संशोधित विधेयक पास किया है जिस पर राष्ट्रपति की सहमति प्राप्त करना अभी बाकी है। मैसूर में भी इस सम्बन्ध में कानून बना दिए गए हैं।

सिंचाई-कार्यों के सम्बन्ध में उनसे लाभ उठाने वाले किसानों के निम्न कर्त्तव्य होंगे :

१—बड़े और मध्यम दर्जे के सिंचाई योजना-कार्य :

(क) निर्माण की अवधि में : जिन किसानों की भूमि की योजना-कार्य से सिंचाई होगी, उनको एक निश्चित अवधि के अन्दर अपने खेतों में नालियां बनानी होंगी।

(ख) देख-रेख : योजना-कार्यों से लाभ उठाने वाले किसानों को खेतों की नालियों की हर साल मरम्मत इत्यादि करके उन्हें ठीक रखना होगा।

२—छोटे सिंचाई योजना-कार्य :

(क) नहरों की मिट्टी हटा कर उनकी देख-रेख करना।

(ख) तालाबों की मेड़ों की देख-रेख, और

(ग) तालाबों की तह की मिट्टी साफ करना।

(इसके अन्तर्गत वे तालाब नहीं आते जिनकी बहुत समय से अवहेलना की गई है और जिनकी देख-रेख सीधे सरकार को करनी है)

यह सुझाव है कि कानून बना कर गांवों की पंचायतों को यह अधिकार दिए जाएं कि वे योजना-कार्यों से लाभ प्राप्त करने वाले किसानों को उपर्युक्त कर्त्तव्य करने के लिए बाध्य कर सकें। अगर वे लोग अपना उत्तरदायित्व न निभा सकें और समय पर काम पूरा न कर सकें तो पंचायत को चाहिए कि वह काम पूरा कराए और उनसे लागत वसूल करे। अगर पंचायत भी यह काम पूरा नहीं करा सके तो सरकार या उसकी ओर से खण्ड की पंचायत समिति इसकी व्यवस्था करे और अन्ततोगत्वा किसानों से उसकी कीमत वसूल करे।

बंध बांधने और भूमि संरक्षण के सम्बन्ध में योजना आयोग ने निम्न तरीके से काम करने के सुझाव दिए हैं :—

(क) सरकार को कानून के अन्तर्गत यह अधिकार मिलना चाहिए कि वह बड़ी या छोटी नदियों के घाटों या कुछ गांवों के समूह के लिए बंध बांधने की एक योजना बनाए और उसे सम्भव एतराजों के लिए प्रसारित करे। जनता के एतराज़ ज्ञात हो जाने के बाद योजना पक्की कर दी जाए ;

(ख) किसी भी स्वीकृत योजना में सरकार को ये खर्च उठाने चाहिएं : (१) नदी को जिन क्षेत्रों से पानी प्राप्त होता है, उनमें वृक्ष लगाने का और (२) उन निर्माण-कार्यों का जिनसे एक से अधिक गांवों को लाभ हो ;

(ग) गांवों के अन्तर्गत, ऐसे निर्माण-कार्यों का खर्च जिनसे सारे गांवों को लाभ हो, लाभ प्राप्त करने वाले किसानों से उनकी जोत के आकार आदि के अनुपात से वसूल किया जाए। उन किसानों को सरकार या सहकारी संस्थाएं कर्ज़ दे सकती हैं जिसकी अदायगी की अवधि पांच या दस वर्ष तक रखी जा सकती है ; और

(घ) व्यक्तिगत जोत में होने वाले निर्माण-कार्य वे किसान खुद करें जिन्हें उनसे लाभ होना है।

(ग) और (घ) के अन्तर्गत दिए गए निर्माण-कार्यों के सम्बन्ध में भी वही व्यवस्था होनी चाहिए जो सिंचाई योजनाओं के लिए पैरा ७ में सुझाव गई है यानी ये काम भी उसी तरह पूरे कर लिए जाएं और सम्बन्धित किसानों से लागत वसूल कर ली जाए।

मद ३ के निर्माण-कार्य

इस मद में वे योजनाएं सम्मिलित हैं जिनके द्वारा ग्राम-समुदाय लाभकारी आर्थिक सम्पत्ति का निर्माण कर सकेगा। सरकारी नीतियों और उनके दिन-प्रति-दिन के प्रशासन का यह उद्देश्य होना चाहिए कि सामुदायिक पूंजी का निर्माण हो, जैसे गांवों में तालाब, मछली-पालन, जलाने की लकड़ी के पेड़ लगाना और चरागाह आदि गांवों की मिल्कियत हों। ऐसी कुछ

उपयुक्त योजनाएं भी होनी चाहिएं जिनसे ग्राम-समुदाय दूसरे कुछ आर्थिक लाभ के काम, जैसे मुर्गी और बत्तख-पालन, ग्रामोद्योग आदि, चालू कर सके। ये कार्यक्रम कुल मिला कर विकास खण्ड की और प्रत्येक गांव की अलग-अलग ज़रूरतों को ध्यान में रख कर बनाए जाने चाहिएं। लेकिन इनको कार्यान्वित करने का भार गांव पर ही छोड़ दिया जाए। सम्बन्धित विभाग को चाहिए कि उन्हें तकनीकी सहायता और ऐसा सामान, जैसे इंधन की लकड़ी पैदा करने वाले पेड़ लगाने के लिए बीज और मछली पालन के लिए मछली के बीज वगैरह दें। सामान्य लक्ष्य यह होना चाहिए कि प्रत्येक ग्राम पंचायत को इन कार्यक्रमों से प्रति वर्ष कम-से-कम १,००० रुपए की आय हो जाए।

मद ४ के निर्माण-कार्य

अप्रैल, १९५९ में राष्ट्रीय विकास परिषद् ने इस प्रस्ताव का समर्थन किया कि तीसरी पंचवर्षीय योजना में ग्रामीण क्षेत्रों के लिए सुविधाएं जुटाने को एक न्यूनतम कार्यक्रम रखा जाए। ये सुविधाएं निम्न होंगी :—

(क) पीने के पानी का उपयुक्त प्रबन्ध ;

(ख) गांव के नज़दीक से गुज़रने वाली बड़ी सड़क या रेलवे स्टेशन से गांव को मिलाने वाली सड़कों का निर्माण ; और

(ग) गांव के स्कूल का भवन जो गांव के समुदाय केन्द्र का काम भी देगा और जहां पर एक पुस्तकालय भी होगा।

इस कार्यक्रम का उद्देश्य यह है कि प्रत्येक गांव अपने लिए उपयुक्त सुविधाएं जुटाए। स्थानीय लोग मुख्यत: श्रम के रूप में, और अगर आवश्यक हो तो धन के रूप में इस काम में सहयोग दें।

पहली और दूसरी योजनाओं में सम्मिलित स्थानीय विकास कार्यक्रमों की बहुत प्रशंसा हुई और मोटे तौर पर इसमें स्थानीय लोगों ने बहुत उत्साह से भाग लिया। यह सुझाव है कि तीसरी योजना में इस मद के अन्तर्गत अधिक खर्च रखा जाए। यह समझा जाता है कि केन्द्रीय और राज्य सरकारों द्वारा दिए जाने वाले अनुदान का बंटवारा विभिन्न खण्डों में उनकी आबादी के अनुसार किया जाएगा। राज्य सरकार अनुदान का

कुछ हिस्सा यानी १० प्रतिशत तक सुरक्षित रख सकती है ताकि अधिक पिछड़े हुए खण्डों को अतिरिक्त सहायता दी जा सके।

उद्देश्य यह है कि ग्रामीण क्षेत्रों में स्थानीय विकास कार्यक्रम शुरू किए जाएं। हां, संक्रमण काल में जब तक कि सामुदायिक विकास कार्यक्रम सारे गांव में फैले, यह सुझाव है कि राज्य सरकार कुछ अधिक राशि सुरक्षित रखे ताकि (क) पिछड़े हुए क्षेत्रों, (ख) उन क्षेत्रों जो सामुदायिक विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत नहीं आए हैं : (ग) पूर्व-विस्तार खण्डों और उन खण्डों, जिन्होंने सामुदायिक विकास कार्यक्रम का पहला और दूसरा सोपान पार कर लिया है, को सहायता दी जा सके।

प्रश्न यह उठता है कि क्या स्थानीय विकास के ये कार्य केवल उपर्युक्त सुविधाओं से ही सम्बन्धित हैं ? यह सुझाव है कि विकास खण्डों को खर्च के लिए उपलब्ध राशि में प्राथमिकता उन्हीं कामों को दी जाए और दूसरे कामों को तभी हाथ लगाया जाए जब खण्ड के सभी लोगों के लिए बुनियादी ज़रूरतें पूरी हो चुकें।

मद ५ के निर्माण-कार्य

अप्रैल, १९५९ में राष्ट्रीय विकास परिषद् ने इस प्रस्ताव का समर्थन किया कि जिन क्षेत्रों में बेरोज़गारी बहुत अधिक है, वहां विशेष निर्माण-कार्य शुरू किए जाएं जिनका संगठन स्थानीय संस्थाएं और राज्य सरकारें करें और उनमें गांव की दर पर मज़दूरी दी जाए। निकट भविष्य में जिन ज़िलों को भरपूर खेती के लिए चुना जाए, वहां ऐसे विशेष निर्माण-कार्य जो दूसरे प्रयासों के पूरक हों संगठित करने में व्यावहारिक अनुभव प्राप्त करने का प्रयास किया जाए। कुछ अन्य ग्रामीण क्षेत्रों में जहां आबादी का घनत्व बहुत अधिक है, ऐसे आदर्श निर्माण-कार्य शुरू किए जाएं जिनमें अब की अपेक्षा अधिक ग्रामीण जन-शक्ति का भरपूर उपयोग किया जा सके। राज्यों की योजनाएं तैयार करते समय इस बात का खास खयाल रखा जाए कि १ और ४ मद के निर्माण-कार्यों को उपयुक्त मात्रा में स्थान मिले और ऐसा करते समय पिछड़े हुए क्षेत्रों की विशेष आवश्यकताओं को ध्यान में रखा जाए। राज्य सरकारें इस बात का भी

ध्यान रखें कि अगर इन कार्यक्रमों को कार्यान्वित करने के लिए किसी विशेष व्यवस्था की आवश्यकता हो तो उसका इन्तज़ाम काफी पहले से कर लिया जाए ।

सामुदायिक सम्पत्ति के निर्माण में श्रम का योग : पंचायतों के सम्बन्ध में कुछ राज्यों के कानूनों में यह व्यवस्था है कि पंचायतें कानून के अन्तर्गत दी गई सीमा तक वर्ष भर में कुछ ऐसे दिन निश्चित कर सकती हैं जब समुदाय के प्रत्येक वयस्क पुरुष को निःशुल्क श्रम करना होगा । राज्य सरकारों से अनुरोध किया जाता है कि वे इस बात पर विचार करें कि (१) क्या निर्दिष्ट कार्य-दिवसों या घण्टों की संख्या बढ़ाई जा सकती है ताकि समुदाय सम्पत्ति का अच्छी मात्रा में निर्माण किया जा सके ; और (२) समुदाय का अधिकतम समर्थन प्राप्त करके इस व्यवस्था का कहां तक विस्तार किया जा सकता है ? गांव के लिए प्रदान की जाने वाली सेवाओं और सुविधाओं तथा समुदाय की सम्पत्ति के निर्माण को दृष्टि में रख कर ही गांव वालों के सहयोग की मात्रा निश्चित की जाए—यह सहयोग श्रम या धन किसी भी रूप में दिया जा सकता है । यहां यह बताना आवश्यक है कि उपर्युक्त दिशा में कानून बनाना संविधान के विरुद्ध नहीं है बल्कि उसके अधिनियम २३ से मेल खाता है ।

संकटकाल के लिए ग्रामीण श्रम का संगठन : प्राचीन समय से यह प्रथा चली आ रही है कि कुछ आपातकालीन घटनाएं, जैसे बाढ़, पानी रुक जाना, पानी की निकासी आदि का मुकाबला करने के लिए कई गांवों के लोग इकट्ठे हो जाते थे । ऐसे क्षेत्रों में जहां इस प्रकार की प्राकृतिक दुर्घटनाएं होने की सम्भावना हो, सामुदायिक विकास संगठन को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि जनता इस सामुदायिक उत्तरदायित्व को समझे और इसके लिए जिस नेतृत्व की आवश्यकता होती है, वह समय पर उपलब्ध हो सके और साथ ही उस क्षेत्र में दुर्घटनाओं का सामना करने के लिए आवश्यक दूसरा सामान भी उपलब्ध हो ।

ग्रामोद्योग और खेती के अतिरिक्त दूसरे धंधे : ग्रामीण क्षेत्रों में खेती के अतिरिक्त दूसरे रोज़गार की व्यवस्था की आवश्यकता पर पहले ही काफी बल दिया जा चुका है । ऐसा किए बिना एक ऐसी सन्तुलित ग्रामीण

अर्थ-व्यवस्था का निर्माण सम्भव नहीं है जिसमें सभी साधनों, खासकर उपलब्ध जन-शक्ति का पूरा उपयोग किया जा सके और आय और जीवन-स्तर को ऊंचा उठाया जा सके। यही कारण है कि हमारी सभी राष्ट्रीय और स्थानीय योजनाओं में ग्रामोद्योगों को बहुत अधिक महत्व दिया गया है। इनके अन्तर्गत बहुत से सहायक व्यापार आते हैं जैसे गुड़ बनाना, मुर्गी और मधु-मक्खी पालन, परम्परागत ग्रामीण दस्तकारियां जिनमें गांवों के कारीगरों की तकनीक का उत्तरोत्तर विकास होता रहे, प्रत्येक क्षेत्र के कृषि से उत्पन्न वस्तुओं के विधायन उद्योग (ये उद्योग जहां तक सम्भव हो, सहकारी आधार पर संगठित किए जाएं) और छोटे पैमाने के उद्योग जो बिजली से चलें और जिनका बड़े पैमाने के उद्योगों से घनिष्ठ रूप से सम्बन्ध हो। निःसन्देह ग्रामीण क्षेत्रों के विकास के इस सोपान में उच्चतम, प्राथमिकता उन कामों को दी जानी चाहिए जिनसे गांवों की स्थानीय आवश्यकताएं पूरी हों। इसके अतिरिक्त खेती पर आधारित दूसरे विधायन उद्योगों को भी प्राथमिकता दी जानी चाहिए। देश में अन्य कहीं छोटे उद्योगों और अग्रगामी योजना-कार्यों के लिए चुने गए क्षेत्रों में प्राप्त अनुभवों से इस बात का पता चलेगा कि इन कार्यक्रमों को किस ढंग पर चालू किया जाए ताकि प्रत्येक ग्रामीण क्षेत्र की अर्थ-व्यवस्था का अधिक-से-अधिक लाभ हो सके।

तीसरी पंचवर्षीय योजना से सम्बन्धित मुख्य प्रश्न

समस्या

इस लेख में योजना सम्बन्धी कुछ महत्वपूर्ण बातों की ओर ध्यान दिलाने का प्रयत्न किया गया है, ताकि इस विषय पर सुविधापूर्वक विचार-विमर्श किया जा सके।

किसी योजना का निर्माण करते समय निम्नलिखित बातों पर विचार करना आवश्यक होता है :—

(क) योजना के अनिवार्य लक्ष्य ;

(ख) योजना में विनियोग के लिए कितनी पूंजी चाहिए और कितनी उपलब्ध है ;

(ग) कितने साधन चाहिएं और कितने साधन उपलब्ध होने की आशा है, इसका अनुमान ;

(घ) प्राथमिकताओं और तत्कालीन और दीर्घकालीन आवश्यकताओं के सन्तुलन की दृष्टि से विनियोग का कौनसा ढांचा अपनाया जाए ;

(ङ) 'उपकरणत्व' अर्थात् वे तरीके और एजेंसियां जिनके द्वारा साधनों को गतिशील बनाने और उनका विकास करने के लक्ष्य पूरे करने हैं।

ये सब बातें एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं क्योंकि लक्ष्य, साधनों और योजना को कार्यान्वित करने के तरीकों पर एक साथ विचार करना आवश्यक है। इन सबमें एक से अधिक स्तरों पर सन्तुलन स्थापित करना सम्भव है। परन्तु, पूंजी विनियोग के प्रत्येक ढांचे और जो साधन उपलब्ध होने की

आशा है, उनको गतिशील बनाने के सम्बन्ध में कार्यक्रम के विभिन्न स्तरों पर विभिन्न प्रकार के संतुलन और असंतुलन पैदा हो सकते हैं। योजना बनाने का उद्देश्य प्रयत्न और फल-प्राप्ति, कुछ अर्से कम परिश्रम और भविष्य में और तेज़ी से प्रगति करने के लिए फौरन अधिक त्याग, उपभोक्ता माल का उत्पादन और उसकी मांग, कुछ वर्गों पर थोड़ा और दूसरों पर बहुत बोझ, आन्तरिक बचत (निर्यात से होने वाली आय सहित) अथवा विदेशी सहायता पर निर्भर करना, आदि बातों में कुल मिला कर और प्रत्येक बात को अलग-अलग दृष्टि में रख कर अधिक-से-अधिक संतुलन रखना है।

ज्यों-ज्यों योजनाबद्ध कार्यक्रम और अधिक अविच्छेद्य होते जाएंगे त्यों-त्यों ये समस्याएं और जटिल होती जाएंगी और इन पर अधिक ध्यानपूर्वक विचार करने की आवश्यकता होगी। देश के विकास की इस अवस्था में ये संक्रमणकालीन प्रश्न हैं। कई प्रकार से तीसरी योजना देश के विकास में एक मोड़ सिद्ध होगी। कोई भी योजना उसी हद तक सफल होगी जहां तक निर्धारित लक्ष्यों और लक्ष्यों को पूरा करने के लिए उपलब्ध साधनों में ताल-मेल बिठाया जा सकगा। और इसके लिए केवल प्राविधिक विशेषज्ञों के सहयोग की ही नहीं, वल्कि कुछ महत्वपूर्ण राजनीतिक निर्णयों की भी आवश्यकता होती है।

दूसरी पंचवर्षीय योजना में योजनाबद्ध विकास का एक विशेष दृष्टिकोण सामने रखा गया था। इसमें यह स्पष्ट कर दिया गया था कि आगामी योजनाओं में पूंजी विनियोग और बचत के सम्बन्ध में उत्तरोत्तर अधिक प्रयास करने होंगे ताकि १९७३-७४ तक हमारे देशवासियों की प्रति व्यक्ति आय दुगुनी हो सके (परिशिष्ट १ देखिए)। तीसरी योजना में भी इस दृष्टिकोण को सामने रखना होगा। उस समय जो कल्पना की गई थी अब उसकी अपेक्षा जन-संख्या में वृद्धि की रफ्तार अधिक बताई जाती है। दूसरी योजना के अन्त तक कुल राष्ट्रीय आय में जो वृद्धि होगी वह योजना में निर्धारित २५ प्रतिशत से कम ही रहेगी। प्रति व्यक्ति के आधार पर भी यह आय अनुमान से कहीं कम होगी। इस अवधि में हमें जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, उनको ध्यान में रखने की आवश्यकता है और यह देखना भी जरूरी है कि साधनों को गतिशील बनाने के लिए जो तरीके

और तकनीकें अपनाई जानी हैं वे योजना की ज़रूरतों को पूरा करने के लिए काफी हैं। आरम्भ में उपलब्ध अथवा गतिशील बनाने योग्य साधनों के कारण हमें कुछ कठिनाइयाँ पड़ेंगी, लेकिन ज्यों-ज्यों पूंजी विनियोग और रोज़गार बढ़ता जाएगा त्यों-त्यों साधन भी बढ़ते जाएंगे। प्रश्न यह है कि योजना की अवधि में ही साधनों के विकास और उनसे सम्बन्धित मांग को एक साथ किस प्रकार आगे बढ़ाया जा सकता है। इसलिए यह बहुत महत्व-पूर्ण है कि नीतियों और सरकार तथा समस्त समुदाय को उपलब्ध होने वाले संगठन सम्बन्धी साधनों का अभिनवीकरण किया जाए। इस समय इसी आधारभूत समस्या पर ध्यान केन्द्रित करने की आवश्यकता है।

लक्ष्य

ऊपर दूसरे पैरे में दिए गए विचारों को लेकर इस समस्या पर प्रकाश डाला जा सकता है। जहां तक (क) अर्थात् अनिवार्य लक्ष्यों का सम्बन्ध है, राष्ट्रीय विकास परिषद् के सदस्यों को भेजे गए परिपत्रों से दो बातें स्पष्ट समझ में आती हैं। पहली यह कि तीसरी योजना में पहली दो योजनाओं में आरम्भ किए गए प्रत्यनों को कुछ और तेज़ी से आगे बढ़ाने की व्यवस्था करनी होगी। दूसरे शब्दों में विकास की रफ्तार तेज़ रखनी होगी और जहां तक हो सके पहले की अपेक्षा बढ़ानी होगी। दूसरी बात यह कि योजनाबद्ध विकास पर इस प्रकार विशेष बल देना होगा, जिससे जितनी जल्दी हो सके हमारी अर्थ-व्यवस्था 'स्वावलम्बी' हो जाए। इसके लिए ऐसे उद्योगों की स्थापना और विस्तार करना होगा जो मशीनें और भारी सामान बनाने वाली हों और अधिक औद्योगीकरण के लिए आवश्यक मशीनें और दूसरा सामान उत्पन्न करें। यहां भी दो बातों पर विचार करना आवश्यक है। इस ढांचे के अन्तर्गत उपभोग पर उचित नियन्त्रण लगाना होगा और उपभोग का स्तर अपेक्षाकृत नीचा रखना होगा। प्रगति इस पर निर्भर करती है कि प्रजातन्त्री वातावरण में यह कहां तक सम्भव हो सकता है। क्योंकि आगे चल कर उत्पादन में जितनी अधिक पूंजी लगाई जाएगी, इन रीतियों को शक्तिशाली बनाने और उनका पूरा उपयोग करने के लिए उतनी ही अधिक मात्रा में तथा विभिन्न

रूपों में सहायक पूंजी विनियोग की आवश्यकता पड़ेगी और इसीलिए इस समय उपभोग के सम्बन्ध में अधिक त्याग करने की आवश्यकता है। दूसरी बात यह है कि जब तक प्रगति के लिए आधार तैयार न हो जाए तब तक औद्योगिक विकास के कार्यक्रम में नए उद्योग शुरू करने के लिए विदेशों से मिलने वाली विदेशी मुद्रा पर निर्भर करना पड़ता है। अर्थ-व्यवस्था स्वावलम्बी तभी हो सकती है जबकि उसके पास ऐसी तकनीकी सुविधाएं हों जिससे भारी सामान और अपनी ज़रूरत की दूसरी मशीनें तैयार हो सकें। ऐसी अर्थ-व्यवस्था का तेज़ी से निर्माण करने के लिए तीसरी योजना में विदेशी मुद्रा की आवश्यकता और बढ़ जाएगी तथा और अधिक विदेशी सहायता की ज़रूरत पड़ेगी। दूसरी ओर, अगर अधिक आर्थिक विकास के मार्ग की इस अड़चन को शीघ्रताशीघ्र दूर नहीं किया गया तो विदेशी साधनों पर अधिक समय तक निर्भर करना पड़ेगा। दोनों ही दृष्टियों से यह आवश्यक है कि तीसरे योजना काल में विनियोग के लिए उपलब्ध साधनों का हिसाब लगा लिया जाए ताकि आवश्यक संतुलन स्थापित किया जा सके। हां, विकास के अन्तर्गत 'संतुलन' की कोई निश्चित परिभाषा नहीं की जा सकती, ज्यों-ज्यों विकास-कार्य बढ़ता जाता है त्यों-त्यों इसके यथार्थ रूप में भी परिवर्तन करना पड़ता है।

दूसरे लक्ष्य, अर्थात् राष्ट्रीय आय में ५ से ६ प्रतिशत तक वृद्धि करना (जैसा कि दूसरी योजना में सुझाव दिया गया था), रोज़गार का काफी विस्तार और आय और धन की अत्यधिक असमानता को दूर करना आदि अभी पूरे करने हैं। तीसरी योजना में रोज़गार का विस्तार करने पर विशेष बल देना होगा क्योंकि दूसरी योजना में उस लक्ष्य की पूर्ति में कुछ कमी रहेगी और काम चाहने वालों की संख्या में और अधिक वृद्धि हो जाएगी।

राष्ट्रीय आय में वृद्धि, विनियोग और रोज़गार के लक्ष्य अपने वित्तीय और संगठन सम्बन्धी प्रयासों को दृष्टि में रख कर निर्धारित करने होंगे। दूसरी योजना के अनुभवों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि केवल लम्बे-चौड़े लक्ष्य निर्धारित कर लेना यानी 'राष्ट्रीय आय में इतनी वृद्धि करनी है', 'पूंजी लगाने के लिए इसमें से इतने धन की आवश्यकता है', इसलिए उपभोग के लिए इतना सामान उपलब्ध हो जाएगा काफी नहीं होगा। उत्पादन के प्रत्येक

महत्वपूर्ण क्षेत्र में कितनी सफलता प्राप्त की जा सकेगी, इसका अनुमान लगाने की आवश्यकता होगी और काफी ठोस तरीके से यह बताना होगा (चाहे यह अनुमान ही हो), कि वर्ष भर में संभरण और मांग में संतुलन किन तरीकों से रखा जाएगा। वास्तव में अगर तीसरी योजना में बचत और पूंजी विनियोग को काफी मात्रा में बढ़ाना है तो प्रयासों की रफ्तार अभी से तेज़ करनी चाहिए। तीसरी योजना में हमारे सामने जो समस्याएं आएंगी, वे अभी हमारे सामने उपस्थित हैं।

जहां तक (ख) का सम्बन्ध है, अर्थात् विनियोग के लिए कितनी पूंजी चाहिए कितनी उपलब्ध हो सकेगी, इस सम्बन्ध में योजना आयोग ने कई कार्यकारी दल बनाए हैं। ये दल विभिन्न क्षेत्रों, जैसे मशीन निर्माण, इस्पात, कोयला, बिजली, सिंचाई, वैज्ञानिक कर्मचारी, कृषि उत्पादन आदि के अस्थायी लक्ष्य तैयार कर रहे हैं। साधनों के सम्बन्ध में जो कर्मचारी दल बनाया गया है उसने हाल ही में अपना काम आरम्भ किया है, इस सम्बन्ध में वित्त मंत्रालय, रिज़र्व बैंक और योजना आयोग का एक दल सम्भावनाओं का अनुमान लगा रहा है।

मोटे तौर पर तीसरी पंचवर्षीय योजना में हमारा उद्देश्य इतने विनियोग का प्रबन्ध करना है जिससे हमारे दो मुख्य लक्ष्य पूरे किए जा सके हैं—पांचवीं योजना के अन्त तक प्रति व्यक्ति आय को दुगुना करना और १९७६ तक कृषि में लगी हुई जनता को कम करके केवल ५५ प्रतिशत तक ले आना। इन उद्देश्यों को पूरा करने के लिए अपनी अर्थ-व्यवस्था से दूसरी योजना की अपेक्षा और अधिक साधन प्राप्त करने की आवश्यकता पड़ेगी। हमें काफी मात्रा में विदेशी सहायता की भी जरूरत पड़ेगी। समस्या यह है कि जितने प्रयास की आवश्यकता है राष्ट्र उतनी बड़ी मात्रा में प्रयास कैसे कर पाएगा। इन प्रयासों को उत्पादन बढ़ाने, कर बढ़ाने और बचत बढ़ाने में लगाना होगा। इन दिशाओं में प्रयासों को जुटाते समय इस बात की ओर ध्यान देना आवश्यक है कि गांव वालों को इसमें क्या हिस्सा अदा करना है और क्या-क्या काम करने हैं।

किसी विकासशील देश में कृषि विकास और औद्योगीकरण को अलग-अलग क्रियाएं नहीं समझना चाहिए, वे एक ही समस्या के एक-दूसरे से

सम्बद्ध दो भाग हैं। अर्द्ध-विकसित क्षेत्रों में आबादी का ज्यादातर हिस्सा कृषि के काम में लगा हुआ है और वहां विकास करने का अर्थ है कि उनकी अतिरिक्त जन-संख्या को गैर-कृषि कार्यों में लगाया जाए, यानी उन्हें उद्योगों और दूसरे कार्यों में लगाया जाए। दूसरे शब्दों में वैज्ञानिक कृषि, ग्राम और लघु उद्योगों, मध्यम दर्जे के उद्योगों और साथ ही भारी और बुनियादी उद्योगों का समन्वित और संतुलित विकास किया जाए। विकास की रफ्तार तेज़ होनी चाहिए और जन-संख्या की वृद्धि की रफ्तार से अधिक तेज़ होनी चाहिए। दूसरी ओर जिस हद तक कृषि की उत्पादकता बढ़ाना सम्भव होगा उसी हद तक देश के आन्तरिक साधनों के द्वारा औद्योगिक विकास को आगे बढ़ाना ही सम्भव होगा। गांव में रहने वाले ७०—८० प्रतिशत लोगों का जीवन-स्तर ऊंचा उठाने तथा ग्राम और नगरों की आय में संतुलन स्थापित करने की दृष्टि से कृषि का उत्पादन बढ़ाना आवश्यक है।

कृषि उत्पादन कार्यक्रमों को लोगों को जीवन की आधारभूत आवश्यकताएं उपलब्ध कराने और ग्राम क्षेत्रों में रोज़गार के विस्तार तथा गांवों की जन-शक्ति का निर्माणात्मक कार्यों में लगा कर समुदाय की सम्पत्ति का निर्माण करने के एक वृहत् आन्दोलन के भाग के रूप में अधिक असरदार तरीके से आगे बढ़ाया जा सकता है।

जन-शक्ति का उपयोग

ग्रामीण क्षेत्रों की बेकार पड़ी जन-शक्ति का उपयोग निम्नलिखित आधार पर किया जा सकता है :—

(१) कुछ ऐसे कार्यक्रम हैं जिनमें समाज या समुदाय या लाभान्वित होने वाले लोगों पर एक वैधानिक ज़िम्मेदारी लागू होनी चाहिए, जैसे खेतों में नालियां खोदना, मेड़ों और नालियों की देखभाल करना और बंध बांधना। इस सम्बन्ध में प्रत्येक स्थानीय समुदाय इन परम्परागत ज़िम्मेदारियों को लागू करने का उत्तरदायित्व स्वीकार करे। परम्परागत ज़िम्मेदारियों को उन कार्यक्रमों पर

भी लागू करना चाहिए जो ग्राम विकास की नई ग्राव-श्यकताओं को पूरा करने के लिए महत्वपूर्ण हैं ।

(२) अभी तक हमारी योजनाओं में ग्रामीण क्षेत्रों में कुछ विशेष आधारभूत आवश्यकताओं की व्यवस्था करने की ओर यथेष्ट ध्यान नहीं दिया गया जैसे (१) पीने के साफ पानी की उचित व्यवस्था (२) गांव का स्कूल, और (३) प्रत्येक गांव को नज़दीक की बड़ी सड़क या रेलवे स्टेशन से मिलाने वाली सड़कें आदि बनवाना । ये तीन सेवाएं ग्रामीण क्षेत्रों के लिए एक प्रकार की राष्ट्रीय न्यूनतम सामाजिक सेवाएं होनी चाहिएं । और उन्हें तीसरी योजना में महत्वपूर्ण स्थान मिलना चाहिए । ग्राम समुदायों से उत्पादन बढ़ाने के लिए अपने भरसक प्रयत्न की आशा तब तक नहीं की जा सकती, जब तक हम उनके सामने ऐसे लक्ष्य न रखें जिन्हें वे स्वयं उत्साहपूर्वक पूरा करना चाहेंगे ।

(३) सरकारी नीतियों और दिन-प्रतिदिन के प्रशासन का यह लक्ष्य होना चाहिए कि वे सामुदायिक सम्पत्ति का निर्माण करें जो कि सम्पूर्ण गांव की सामूहिक सम्पत्ति हो । ग्राम समुदाय में प्रत्येक व्यक्ति को यह आभास होना चाहिए कि दूसरे के साथ मिल कर वह जो कुछ दे रहा है उससे उसे भी लाभ पहुंचेगा । इसलिए राज्य सरकार की नीतियों का पुनर्निर्धारण होना चाहिए ताकि सामुदायिक सम्पत्ति, जो समस्त गांव की सामूहिक सम्पत्ति होगी, जैसे गांव के तालाबों, मछली पालने के तालाबों, बागानों, चरागाहों आदि का निर्माण हो सके । इससे ग्राम पंचायतों की आय बढ़ेगी । कानून बना कर और व्यक्ति तथा समुदाय को कर्ज़ देने की सुविधाएं देकर ग्राम जीवन में सामुदायिक कार्यक्रम को और मज़बूत करने के लिए विशेष प्रयत्न किए जाने चाहिएं ।

(४) योजना में सम्मिलित सभी योजना-कार्य, जिनमें अकुशल

अथवा अर्द्ध-कुशल कर्मचारियों की आवश्यकता पड़ती है, प्रत्येक गांव और क्षेत्र में वहां के समुदाय द्वारा ही कराए जाने चाहिएं ताकि इनमें जो रोज़गार मिले और जो लाभ हों, उससे गांव की जनता को लाभ हो।

कृषि उत्पादन

कृषि उत्पादन में जितनी वृद्धि होगी उतनी ही हमारी योजनाएं सफल होंगी। दूसरी योजना के लिए आरम्भ में जो लक्ष्य निर्धारित किए गए थे वे बहुत कम थे, इसलिए उन्हें बढ़ाना पड़ा। लक्ष्यों को बढ़ाने के बाद १९५६ के आखिर में जो प्रयत्न आरम्भ किए गए वे भी नाकाफी साबित हुए। कृषि उत्पादन बढ़ाने की समस्या मुख्यत: प्रशासन और संगठन तथा जनता में उत्साह पैदा करने की समस्या है। अगर ये हो जाएं तो आवश्यक आर्थिक साधनों का प्रबन्ध, विशेषकर कर्ज़ आदि देकर दूर किया जा सकता है। फरवरी, १९५५ में योजना आयोग ने राज्य सरकारों के सामने तीसरी योजना के अन्त तक कृषि उत्पादन को दुगुना करने का लक्ष्य रखा था। विभिन्न बातों को ध्यान में रखते हुए, योजना आयोग ने यह सुझाव दिया कि कृषि से सम्बन्धित कार्यकारी दल को तीसरी योजना के अन्त तक ग्यारह करोड़ टन अन्न पैदा करने के लक्ष्य को पूरा करने के बारे में भी अध्ययन करना चाहिए, जिसका अर्थ यह होगा कि वर्तमान योजना के अन्त तक जो उत्पादन संभव हो सकेगा उससे ४० से लेकर ४५ प्रतिशत तक अधिक उत्पादन करना होगा। जो बात देखनी है वह यह है कि यह लक्ष्य किस प्रकार पूरा किया जा सकता है। विनियोग, उत्पादन बचत और आर्थिक शक्ति के निर्माण में यह सबसे महत्वपूर्ण कड़ी है।

साधन

अब तक किए गए प्रारम्भिक परीक्षण के अनुसार साधनों की स्थिति इस प्रकार है :—

(१) कर प्रणाली के वर्तमान आधार पर, फिलहाल सरकार (इसमें केन्द्रीय और राज्य सरकारें शामिल हैं) के पास पूंजी

विनियोग के लिए अतिरिक्त साधन नहीं हैं, १९५८-५९ और १९५९-६० में केन्द्रीय सरकार को प्राप्त होने वाली शुद्ध बचत में क्रमश: ५० करोड़ रुपए और ३६ करोड़ रुपए का घाटा रहा ।

(२) जब दूसरी योजना का कुछ राजस्व लेखा व्यय तीसरी योजना में 'प्रतिश्रुत' व्यय मान लिया जाएगा तब यह खाई और चौड़ी हो जाएगी, इसलिए राजस्व लेखा के संतुलन को बनाए रखने के लिए काफी मात्रा में नए कर लगाने की आवश्यकता होगी ।

(३) वर्तमान कर-प्रणाली के द्वारा राज्य कोष में निरन्तर बढ़ती हुई अथवा स्थायी राष्ट्रीय आय नहीं हो पाती, दूसरी ओर, वर्तमान खर्च के लिए भी साधनों पर भार बराबर बढ़ता जा रहा है ।

(४) निर्यात का वर्तमान स्तर केवल आवश्यक वस्तुओं के आयात (इनमें कुछ गैर-विकासकारी और 'प्रतिश्रुत' आयात भी शामिल हैं) करने के लिए ही काफी है और योजना के लिए विदेशी मुद्रा का खर्च विदेशी सहायता के द्वारा ही पूरा करना होगा । इसके अलावा योजना के पहले दो-एक सालों में पहले लिए हुए कर्जों की अदायगी भी विदेशों से नए कर्ज लेकर करनी होगी ।

(५) विदेशी मुद्रा की जमा पूंजी न्यूनतम स्तर पर आ पहुंची है, इसलिए तीसरी योजना का सोपानवार कार्यक्रम जितनी विदेशी सहायता उपलब्ध हो सकती है, उसके अनुसार ही बनाना होगा । कोई भी काम शुरू करना तब तक कठिन होगा, जब तक यह विश्वास न मिल जाए कि हमें योजना-कार्यों की आवश्यकता के अनुसार काफी विदेशी सहायता निरन्तर मिलती रहेगी । यह नई सहायता ऐसी शर्तों पर लेनी होगी जिससे भविष्य में काफी समय तक कर्ज़ की अदायगी का बोझ न बढ़े ।

(६) मुद्रास्फीति के दबाव को रोकने के लिए सब सम्भव प्रयत्न करने होंगे ताकि देश में मूल्यों का स्थिरीकरण खराब न हो और निर्यात कम हो जाने और आयात बढ़ जाने से भुगतान के सन्तुलन पर बुरा असर न पड़े। यहां यह भी ध्यान रखने की आवश्यकता है कि वर्तमान अनुमान के अनुसार दूसरी योजना का विदेशी मुद्रा का सारा खर्च, विदेशी सहायता और जमा पूंजी से ही पूरा किया गया है।

जिन आधारों पर साधनों का संगठन किया जा सकता है, उन पर कई भागों में अध्ययन करने की आवश्यकता होगी। इसके लिए पैरा २ (५) अर्थात् 'उपकरणत्व' का विस्तृत अध्ययन करना होगा। वित्तीय नीति, मुद्रा सम्बन्धी नीति, मूल्य स्थिरीकरण के प्रश्न, रोज़गार की समस्या का हल, जिसमें उस जन-शक्ति का उपयोग भी शामिल है जिसका अभी तक पूरा उपयोग नहीं हो रहा, ये सब इस विषय के अन्तर्गत आते हैं। यहां यह बता देना होगा कि 'ख' और 'घ' अर्थात् पूंजी विनियोग कितनी मात्रा और किस रूप में हो, का 'ग' तथा 'ङ' के बारे में लिए जाने वाले निर्णयों से सम्बन्ध है।

मूल प्रश्न ये हैं : उत्पादन किस रफ्तार पर बढ़ाया जा सकता है और बढ़े हुए उत्पादन का कितना भाग पूंजी के रूप में लगाया जा सकता है? विकास के लिए साधन तभी बढ़ाए जा सकते हैं जबकि समुदाय के पास उपभोग के बाद अतिरिक्त हो और यह वर्तमान परिस्थितियों में, उपभोग की मात्रा कम करने पर उतना निर्भर नहीं करता जितना कुल उत्पादन बढ़ाने पर निर्भर करता है, जिससे उपभोग और पूंजी विनियोग दोनों की मांग पूरी हो सके। कृषि उत्पादन, विशेषकर खाद्य उत्पादन इसका सबसे महत्वपूर्ण अंश है और सबसे पहले इस सम्बन्ध में लक्ष्य निर्धारित करने हैं और इन लक्ष्यों को पूरा करने के लिए आर्थिक और संगठन सम्बन्धी साधन निश्चित करने हैं।

परन्तु केवल उत्पादन में वृद्धि हो जाना ही काफी नहीं है। जो वृद्धि होगी उसे गतिशील करने तथा उसे पूंजी के रूप में लगाने की योजना बनानी होगी। इस सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि ग्रामीण

क्षेत्रों में होने वाले अतिरिक्त उत्पादन (जब भी ऐसा हो) को किस प्रकार इकट्ठा किया जाए। क्या कोई ऐसा तरीका निकाला जा सकता है जिससे सार्वजनिक क्षेत्र को इस बढ़े हुए उत्पादन का उचित भाग मिल सके? क्या भूमि से होने वाली आय बढ़ाई जा सकती है? इस सम्बन्ध में कर आयोग ने कुछ विशेष सिफारिशें प्रस्तुत की थीं, परन्तु अब तक प्राप्त अनुभव उत्साहजनक नहीं हैं। अथवा क्या सहकारी संस्थाओं और लघु बचत आन्दोलन द्वारा ग्रामीण क्षेत्र में बचत को काफी बड़े पैमाने पर गतिशील किया जा सकता है?

यहां यह बता देना भी जरूरी है कि राज्यों को आर्थिक सहायता देने की केन्द्र की क्षमता अन्तिम सीमा तक पहुंच गई है। निःसन्देह केन्द्र को आवश्यक साधन जुटाने और राज्यों की सहायता करने का काम तो करना ही पड़ेगा। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या राज्य सरकारें, ग्रामीण क्षेत्रों के लिए कोई ऐसी कर-प्रणाली निकाल सकती हैं जिससे आवश्यक साधनों का बड़ा भाग प्राप्त हो सके। इस सम्बन्ध में यह विचार करना भी लाभदायक होगा कि भूमि राजस्व और ग्रामीण क्षेत्र पर राज्य सरकार द्वारा लगाए जाने वाले दूसरों करों में वृद्धि के अतिरिक्त, कृषि और गैर-कृषि सम्बन्धी आय और धन पर उसी आधार पर केन्द्र प्रत्यक्ष कर लगा सकता है यानी इस आय को केन्द्र और राज्य सरकारें जैसा समझौता हो, उसके अनुसार आपस में बांट लें? यह मान लिया गया है कि भूमि की अधिकतम सीमा निर्धारित करने के बाद कृषि से होने वाली बड़ी व्यक्तिगत आय तो खत्म हो जाएगी। तो भी, यह फिर भी अच्छा होगा कि आयकर के क्षेत्र में आने वाली सभी आयों को समान आधार पर देखा जाए, इकट्ठा किया जाए और उनके ऊपर समान रूप से कर लगाया जाए। इसी प्रकार राज्य सरकारों द्वारा लगाए जाने वाले बिक्री करों की अपेक्षा (जिनमें कर वंचना की काफी गुंजाइश रहती है) केन्द्र द्वारा लगाए गए उत्पादन शुल्क का विस्तार अधिक लाभदायक सिद्ध हो सकता है।

इस सम्बन्ध में यह जांच करने की भी जरूरत है कि भूमि राजस्व और दूसरे स्थानीय करों को इकट्ठा करने और बढ़ाने का काम स्थानीय

संस्थाओं को सौंप दिया जाए। दूसरी ओर इन संस्थाओं पर अपने क्षेत्रों में कुछ विशेष प्रकार के योजना-कार्यों के लिए धन की व्यवस्था करने की जिम्मेदारी हो।

करों के अतिरिक्त, सार्वजनिक क्षेत्र की व्यापारिक और औद्योगिक संस्थाओं को भी तीसरी योजना में काफी मात्रा में पूंजी लगानी होगी। सच बात तो यह है कि इस साधन को सम्भवत: करों से भी अधिक महत्व देना होगा। सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों में मूल्य निर्धारण नीतियों और उनके साथ-साथ खर्च के ढांचे पर भी इस रोशनी में विचार करना होगा। तथ्य की दृष्टि से यह तर्क ठीक ही है कि सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों के उत्पादन की कीमतें बढ़ने से साधारण कीमतें और महंगाई बढ़ जाएंगी, परन्तु यहां प्रश्न यह है कि क्या जनता से यह आवश्यक त्याग करने के लिए कहा जाए ? यहां यह बता देना जरूरी है, कि एक बार पूंजी विनियोग की मात्रा निश्चित करने के बाद त्याग के सवाल पर स्वतन्त्र रूप से विचार करने का कोई अर्थ नहीं रह जाता।

संगठन सम्बन्धी प्रश्न

संगठन सम्बन्धी प्रश्न से सम्बन्धित कुछ विशेष बातों जैसे खाद्यान्न के राज्यीय व्यापार और सहकारी संस्थाओं के विकास आदि पर अलग से विचार किया जा रहा है ? इसलिए उन्हें यहां नहीं छेड़ा गया है। यहां यह भी बता देना जरूरी है कि ग्रामीण क्षेत्रों को ठीक से संगठित करने और जनता और गैर-सरकारी कर्मचारियों का सहयोग प्राप्त करने की सम्भावनाएं इस बात पर निर्भर करती हैं कि ग्राम, खण्ड और ज़िला स्तर पर स्वायत्त शासन और प्रजातंत्र का किस गति से विकास होता है। इस दिशा में पहले से किए गए प्रयत्नों को तीव्र करने और निश्चित अवधि में आवश्यक परिवर्तन करने की ज़रूरत है।

इस सम्बन्ध में, राष्ट्रीय विकास परिषद् ने इस बात पर जोर दिया है कि ग्राम पंचायतों और ग्राम सहकारी संस्थाओं जैसी ग्रामीण संस्थाएं सामुदायिक विकास और स्थानीय योजनाएं बनाने के लिए बहुत अच्छा माध्यम प्रमाणित हो सकती हैं। इसके लिए पंचायतों और सहकारी

संस्थाओं के सदस्यों को प्रशिक्षण देने के काफी संख्या में कार्यक्रम बनाने की भी आवश्यकता है। उद्देश्य यह होना चाहिए कि ३-४ साल में प्रत्येक गांव से लगभग १० कार्यकर्ता चुन कर, कुल ५० लाख ग्रामसेवक तैयार कर दिए जाएं। खण्ड और ज़िला स्तर पर जितनी जल्दी हो सके निर्वाचित संस्थाएं स्थापित की जाएं और इस बात का भरसक प्रयत्न करना चाहिए कि इनमें अधिकतम गैर-सरकारी लोग भाग लें। ज़िला, खण्ड और ग्राम स्तरों पर होने वाले विकास कार्यक्रमों को सामुदायिक काम समझा जाना चाहिए और इसमें प्रत्येक कार्यक्रम ऐसा होना चाहिए जो सब के कल्याण के लिए हो। ग्राम, खण्ड और ज़िला योजनाओं द्वारा ही सब लोगों का योजना-कार्यों के साथ निकटतम सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है और उन्हें अपनी आवश्यकताओं को निर्धारित करने और राष्ट्रीय विकास में अपना पूरा सहयोग देने का अवसर मिल सकता है।

प्रश्न

थोड़े में मुख्य प्रश्न ये हैं :—

(१) तीसरी योजना में मोटे तौर पर प्राथमिकताएं क्या होनी चाहिएं, विशेषकर, कम-से-कम समय में अपनी अर्थ-व्यवस्था को किस हद तक स्वावलम्बी बनाया जा सकता है? किस सीमा तक तीसरी योजना में ग्रामीण क्षेत्रों में 'राष्ट्र भर में न्यूनतम' सामाजिक सेवाओं की व्यवस्था की आशा की जाती है?

(२) तीसरी योजना में उत्पादन, विशेषकर कृषि उत्पादन किस रफ्तार से वढ़ाया जा सकता है?

(३) ग्रामीण क्षेत्र से प्राप्त होने वाले 'अतिरिक्त' को कहां तक और किस तरीके से गतिशील किया जा सकता है?

(४) बेकार पड़ी जन-शक्ति के उपयोग के ज़रिए योजना के पूंजी विनियोग के प्रयत्नों में क्या सहायता मिल सकती है? इसके लिए किस प्रकार के प्रयास किए जाएं? सामुदायिक

सम्पत्ति के निर्माण के लिए परम्परागत उत्तरदायित्व लागू करने पर विचार किया जाना चाहिए ।

(५) पूंजी के रूप में लगाने के लिए सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों में लाभ की मात्रा कितनी बढ़ाई जा सकती है ?

(६) अगर, जैसा स्पष्ट है, तीसरी योजना के लिए काफी बड़े पैमाने पर आर्थिक साधन जुटाने की ज़रूरत पड़ेगी, तो क्या अभी से शुरुआत की जा सकती है ? पहले ही हमारे सामने यह समस्या है कि हमारे साधन पूरे नहीं हैं। यह समस्या तीसरी योजना के आरम्भ होने पर ही शुरू नहीं होगी । दूसरी योजना के इन अन्तिम दो वर्षों और तीसरी योजना की अवधि को मिला कर जो ७ वर्ष बनते हैं, उनको एक अवधि समझा जाए और उससे अभी से अत्यधिक प्रयत्न किए जाएं ।

(७) निर्यात बढ़ाने के सब सम्भव प्रयत्न करने और आयात पर होने वाले खर्च में बचत करने के पश्चात् तीसरी योजना के अन्तर्गत विदेशी मुद्रा की आवश्यकता को विदेशों से नए ऋण लेकर ही पूरा करना होगा, इस सम्बन्ध में नीति सम्बन्धी कौनसी रुकावटें सामने आती हैं ?

(८) योजनाबद्ध प्रयास के संगठन सम्बन्धी पहलू और गांवों की स्थानीय स्वशासित और सहकारी संस्थाओं के कार्य पर योजना में विशेष ध्यान देना होगा क्योंकि हमारी योजना लोगों के चरित्र निर्माण की ओर भी उतना ही ध्यान देती है, जितना उनके आर्थिक कल्याण की ओर ।

यह कह देना जरूरी है कि यह सब बातें केवल तकनीकी पहलुओं को दृष्टि में रख कर ही नहीं कही गई हैं बल्कि इनमें आवश्यक राजनीतिक न्याय का भी ध्यान रखा गया है ।

परिशिष्ट

आय और विनियोग में वृद्धि, १९५१-५६

(१९५२–५३ के मूल्यों के आधार पर)

मद	पहली योजना (१९५१-५६)	दूसरी योजना (१९५६-६१)	तीसरी योजना (१९६१-६६)	चौथी योजना (१९६६-७१)	पांचवीं योजना (१९७१-७६)
(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	(६)
१—योजना पूरी होने पर राष्ट्रीय आय (करोड़ रुपयों में)	१०,८००	१३,४८०	१७,२६०	२१,६८०	२७,२७०
२—कुल सकल विनियोग (करोड़ रुपयों में)	३,१००	६,२००	९,९००	१४,८००	२०,७००

सम्पत्ति के निर्माण के लिए परम्परागत उत्तरदायित्व लागू करने पर विचार किया जाना चाहिए ।

(५) पूंजी के रूप में लगाने के लिए सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों में लाभ की मात्रा कितनी बढ़ाई जा सकती है ?

(६) अगर, जैसा स्पष्ट है, तीसरी योजना के लिए काफी बड़े पैमाने पर आर्थिक साधन जुटाने की ज़रूरत पड़ेगी, तो क्या अभी से शुरुआत की जा सकती है ? पहले ही हमारे सामने यह समस्या है कि हमारे साधन पूरे नहीं हैं। यह समस्या तीसरी योजना के आरम्भ होने पर ही शुरू नहीं होगी। दूसरी योजना के इन अन्तिम दो वर्षों और तीसरी योजना की अवधि को मिला कर जो ७ वर्ष बनते हैं, उनको एक अवधि समझा जाए और उससे अभी से अत्यधिक प्रयत्न किए जाएं ।

(७) निर्यात बढ़ाने के सब सम्भव प्रयत्न करने और आयात पर होने वाले खर्च में बचत करने के पश्चात् तीसरी योजना के अन्तर्गत विदेशी मुद्रा की आवश्यकता को विदेशों से नए ऋण लेकर ही पूरा करना होगा, इस सम्बन्ध में नीति सम्बन्धी कौनसी रुकावटें सामने आती हैं ?

(८) योजनाबद्ध प्रयास के संगठन सम्बन्धी पहलू और गांवों की स्थानीय स्वशासित और सहकारी संस्थाओं के कार्य पर योजना में विशेष ध्यान देना होगा क्योंकि हमारी योजना लोगों के चरित्र निर्माण की ओर भी उतना ही ध्यान देती है, जितना उनके आर्थिक कल्याण की ओर ।

यह कह देना ज़रूरी है कि यह सब बातें केवल तकनीकी पहलुओं को दृष्टि में रख कर ही नहीं कही गई हैं बल्कि इनमें आवश्यक राजनीतिक न्याय का भी ध्यान रखा गया है ।

परिशिष्ट

आय और विनियोग में वृद्धि, १९५१-५६
(१९५२–५३ के मूल्यों के आधार पर)

मद	पहली योजना (१९५१-५६)	दूसरी योजना (१९५६-६१)	तीसरी योजना (१९६१-६६)	चौथी योजना (१९६६-७१)	पांचवीं योजना (१९७१-७६)
(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	(६)
१—योजना पूरी होने पर राष्ट्रीय आय (करोड़ रुपयों में)	१०,८००	१३,४८०	१७,२६०	२१,६८०	२७,२७०
२—कुल सकल विनियोग (करोड़ रुपयों में)	३,१००	६,२००	९,९००	१४,८००	२०,७००

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	(६)
३—योजना पूरी होने पर विनियोग राष्ट्रीय आय का कितने प्रतिशत था	७.३	१०.७	१३.७	१६.०	१७.०
४—योजना पूरी होने पर जन-संख्या (करोड़ों में)	३८.४	४०.८	४३.४	४६.५	५०
५—पूंजी-उत्पादन में बढ़ोत्तरी का अनुपात	१.८:१	२.३:१	२.६:१	३.४:१	३.७:१
६—योजना पूरी होने पर प्रति व्यक्ति आय (रुपयों में)	२८१	३३१	३९६	४६६	५४६

पूरक टिप्पणी

तीसरी पंचवर्षीय योजना से सम्बन्धित मुख्य प्रश्नों पर योजना आयोग द्वारा प्रस्तुत लेख की यह पूरक टिप्पणी है और यह राष्ट्रीय विकास परिषद् के विचारार्थ कुछ महत्वपूर्ण दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है।

(१) दूसरी पंचवर्षीय योजना में १९५६-६१ तक राष्ट्रीय आय में २५ प्रतिशत वृद्धि और १९६१-६६ तक २८ प्रतिशत वृद्धि करने का अनुमान किया गया था। ऐसा अनुमान है कि दूसरी योजना की अवधि में प्राप्त होने वाली सफलता योजना में अनुमानित प्रगति से कम रहेगी। इसलिए आरम्भ में प्रगति का जो लक्ष्य निर्धारित किया गया था, उस तक पहुंचने के लिए अब पहले से बहुत अधिक प्रयत्न करना पड़ेगा। इसलिए वर्तमान योजना के दो वर्ष और आगामी योजना के पांच वर्ष की अवधि को योजना सम्बन्धी प्रयास की दृष्टि से एक ही काल समझना चाहिए।

(२) स्वास्थ्य सुधरने के कारण अब जन-संख्या में वृद्धि की रफ्तार दूसरी योजना में अनुमानित रफ्तार से कहीं अधिक है। दूसरी योजना में १९६१ तक भारत की कुल जन-संख्या ४०.८ करोड़ और १९६६ में ४३.४ करोड़ हो जाने का अनुमान लगाया गया था; जबकि केन्द्रीय आंकड़ा संस्थान ने यह अनुमान क्रमश: ४३.१ करोड़ और ४८ करोड़ लगाया है। इसलिए, हमारी राष्ट्रीय आय में प्रति व्यक्ति वृद्धि अनुमान से बहुत कम होगी।

(३) तीसरी योजना से सम्बन्धित प्रश्न चार भागों में विभक्त किए जा सकते हैं : (क) पूंजी विनियोग का आकार और ढांचा, विशेषकर उद्योग और सम्बन्धित क्षेत्रों में; (ख) कृषि उत्पादन बढ़ाने के लिए प्रयत्नों का आकार; (ग) निर्देशन जिनके अनुसार जन-शक्ति रूपी साधनों का प्रयोग और सुदृढ़ किया जाए; और (घ) आन्तरिक साधनों को गतिशील करने के लिए उठाए गए कदम, विशेषकर राज्यों में।

(४) विदेशी सहायता पर निर्भरता के समय को कम करने के लिए उद्योग और सम्बन्धित क्षेत्रों में विकास की योजना इस प्रकार से बनानी होगी जिससे आगामी कुछ वर्षों में देश स्वयं ऐसी मशीनें और सामान तैयार करने लग जाए जो औद्योगीकरण के लिए आवश्यक भारी सामान और बड़े पैमाने पर सामान तैयार करने वाली मशीनें बना सके। इस प्रकार हमारी अर्थ-व्यवस्था स्वावलम्बी और अतिरिक्त विदेशी मुद्रा कमाने योग्य हो जाए। इसके लिए पहले से अधिक बचत तथा अपेक्षाकृत अधिक विदेशी सहायता की आवश्यकता पड़ेगी।

(५) पूर्ण ग्रामीण जन-शक्ति के उपयोग और ग्रामीण और नागरिक आय में सही सन्तुलन तथा मुद्रा-स्फीति की रोकथाम करने के लिए तीसरी योजना में कृषि के उत्पादन का बहुत महत्व है। अस्थायी तौर पर यह सुझाव दिया गया है कि तीसरी योजना के अन्त तक खाद्य उत्पादन का लक्ष्य ११ करोड़ टन होना चाहिए। इस सम्बन्ध में कितना प्रयत्न करना पड़ेगा उसका अनुमान लगा लिया जाए। दूसरी योजना के अन्त तक उत्पादन का जो स्तर होगा, उससे यह ४५ प्रतिशत अधिक है। तीसरी योजना की सफलता के लिए कृषि का उत्पादन सबसे महत्वपूर्ण कड़ी समझा जाता है।

(६) ग्रामीण क्षेत्रों में रोज़गार का विस्तार करने और उपलब्ध जन-शक्ति का उपयोग करने के लिए निम्नलिखित विषयों पर विचार करना आवश्यक है—

(क) वे कौनसे कर्त्तव्य हैं, जिन्हें लागू करने के अधिकार ग्राम पंचायतों को सौंपे जाएं? इस सम्बन्ध में स्थानीय सिंचाई-कार्यों का निर्माण और उनकी देखभाल, खेतों में नालियां खुदवाना, बंध बांधना और भूमि संरक्षण आदि सुझाए गए हैं।

(ख) जन-शक्ति के साधनों का उपयोग करने के लिए एक लाभदायक तरीका यह है कि सामुदायिक सम्पत्ति और सेवाओं का निर्माण किया जाए जिनमें ये शामिल हों—(१) कुछ न्यूनतम समाज-सेवाएं जैसे गांव की पाठशाला, पीने के पानी की व्यवस्था और प्रत्येक गांव को पास के

नगर अथवा मण्डी से जोड़ने वाली सड़क का निर्माण;
(२) छोटे सिंचाई-कार्य, सड़कें और तालाब बनवाना; और
(३) गांवों में ईंधन के लिए पेड़ लगवाना, मवेशियों के चरागाह और मछलियां पालने के तालाब आदि। स्थानीय जन-शक्ति को संगठित करने अथवा इनका निर्माण करने के लिए क्या प्रवन्ध करने चाहिएं ?

(ग) राज्यों की योजनाओं में ऐसे योजना-कार्य शामिल किए गए हैं जिनमें कई गांव आ जाते हैं। इनमें अकुशल और अर्द्ध-कुशल कर्मचारियों की आवश्यकता होती है। गांव में उपलब्ध श्रम-शक्ति को इन योजना-कार्यों में किस तरह वेहतरीन तरीके से लगाया जाए ताकि इनमें अधिक-से-अधिक लोगों को रोज़गार मिल सके।

(घ) जिन क्षेत्रों में अर्द्ध-बेरोज़गारी वहुत अधिक है, उनमें विशेष निर्माण-कार्य संगठित करने के लिए क्या कदम उठाए जाने चाहिएं ? क्या सम्बद्ध स्थानीय अधिकारियों के लिए अपने क्षेत्रों में इस प्रकार के योजना-कार्यों का संगठन करना सम्भव होगा ?

(७) क्या यह सम्भव होगा कि राज्य सरकारें और स्थानीय अधिकारियों द्वारा चलाए गए योजना-कार्यों को विशेष रोजगार योजना कार्यों का नाम दे दिया जाए और इनमें वेतन का कुछ भाग नकदी के रूप में दिया जाए और कुछ वचत सर्टीफिकेटों के रूप में, जिन्हें एक निश्चित अवधि के पश्चात् अथवा किसी और प्रकार से वाद में भुनवाया जा सकता है ?

(८) साधनों के प्रश्न पर निम्नलिखित विषयों पर विचार किया जा सकता है—

(क) ग्रामीण क्षेत्र में उपलब्ध साधनों को वढ़ाने के लिए क्या कदम उठाए जा सकते हैं ? भूमि राजस्व को कहां तक वढ़ाया जा सकता है, ताकि इस बढ़ी हुई अतिरिक्त आय को स्थानीय विकास के लिए उपलब्ध कराया जा सके।

इस प्रकार स्थानीय संस्थाओं को जो अतिरिक्त साधन उपलब्ध कराए गए हैं उन्हें देखते हुए स्थानीय संस्थाओं पर उनके क्षेत्रों के योजना-कार्यों में धन लगाने के सम्बन्ध में क्या अतिरिक्त ज़िम्मेदारियां डाली जा सकती हैं ?

(ख) क्या कृषि से होने वाली आय पर लगाए जाने वाले कर को साधारण आय-कर के साथ समरूपता के आधार पर लाया जा सकता है और इन दोनों प्रकार के करों को एक ही एजेंसी द्वारा एकत्रित और व्यवस्थित कराया जा सकता है ?

(ग) राज्य द्वारा लगाए गए करों की बजाय केन्द्र द्वारा लगाए जाने वाले उत्पादन शुल्कों का क्षेत्र प्रसारित करना किन दशाओं में लाभदायक सिद्ध हो सकता है ?

(घ) सिंचाई और बिजली योजना-कार्यों, सड़क परिवहन और सरकार द्वारा चलाए जा रहे दूसरे वन-सेवा-कार्यों से अधिकतम आय प्राप्त करने के लिए क्या विशेष कदम उठाए जाने चाहिएं ?

(ङ) राज्यीय व्यापार, सहकारी संस्थाओं और पंचायतों की पृष्ठभूमि में क्या यह अब वांछनीय होगा कि भूमि राजस्व और सिंचाई के करों को नकदी के रूप में न लेकर वस्तु-रूप में लिया जाए ?

(च) क्या अनिवार्य बचत योजना लागू की जाए ? अगर की जाए तो किस आधार पर ?

राष्ट्रीय विकास परिषद् के निर्णय

तीसरी पंचवर्षीय योजना के सम्बन्ध में राष्ट्रीय विकास परिषद् की १२वीं बैठक के निर्णय और सिफारिशें—

दूसरी पंचवर्षीय योजना में राष्ट्रीय आय में प्रतिवर्ष ५ प्रतिशत वृद्धि की कल्पना की गई थी। दूसरी योजना की अवधि में वास्तविक वृद्धि

अनुमान से सम्भवतः कम ही होगी। जन-संख्या की वृद्धि, पहले लगाए गए अनुमान की अपेक्षा अधिक तेज़ी से हो रही है। कृषि उत्पादन की बढ़ोत्तरी भी काफी नहीं हुई है। इसलिए अब कहीं बड़े प्रयास की आवश्यकता है। तीसरी योजना की अवधि में राष्ट्रीय आय में प्रतिवर्ष ५ से ६ प्रतिशत तक वृद्धि होनी चाहिए।

तीसरी योजना की सफलता के लिए कृषि के उत्पादन और विशेषकर खाद्यान्नों के उत्पादन का बहुत महत्व है और इसके लिए राष्ट्रीय पैमाने पर भरसक प्रयत्न किए जाने चाहिएं। राष्ट्रीय विकास परिषद् ने कहा कि कृषि उत्पादन के कार्यक्रमों की जांच की जा रही है और तीसरी योजना के निम्नलिखित अस्थायी लक्ष्यों के बारे में कठिनाइयों का अनुमान लगाया जा रहा है :—खाद्यान्न ११ करोड़ टन, कपास ८० लाख गांठें, पटसन ६५ लाख गांठें, गन्ना (खांड) ६० लाख टन और तिलहन ६० लाख टन।

तीसरी योजना के निर्माण में एक मुख्य लक्ष्य के रूप में राष्ट्रीय विकास परिषद् ने औद्योगीकरण के लिए आवश्यक मशीनें और भारी सामान बनाने वाली मशीनें और साज-सामान तैयार करने के काम को अधिक महत्व दिया ताकि अपनी अर्थ-व्यवस्था को स्वावलम्बी बनाया जा सके।

परिषद् ने ग्रामीण क्षेत्रों की जन-शक्ति के उपयोग पर विशेष ज़ोर दिया, विशेष रूप से निम्नलिखित दिशाओं में और भी ज़ोर दिया—

(१) ऐसे कानून बनाए जाने चाहिएं जिनसे पंचायतों को ये अधिकार मिल सकें कि वे समुदाय या उन लोगों जिन्हें योजना-कार्यों से लाभ होता है, पर स्थानीय सिंचाई-कार्यों की देखभाल, खेत की नालियों की खुदाई और देख-भाल, बंध बांधने, भूमि संरक्षण के काम आदि की ज़िम्मेदारियां लागू कर सकें।

(२) तीसरी योजना में ग्रामीण क्षेत्रों में कुछ न्यूनतम सुविधाएं पहुंचाने का लक्ष्य होना चाहिए, जैसे (क) पीने के साफ पानी की व्यवस्था; (ख) ग्राम पाठशालाएं; और (ग) गांवों को नज़दीक की बड़ी सड़क या रेलवे स्टेशन से मिलाने वाली सड़कें। इन कामों को उन स्थानीय विकास

योजना-कार्यों द्वारा पूरा कराना चाहिए जिनमें लोगों का सहयोग प्राप्त हो। इससे ग्रामीण क्षेत्रों में आवश्यक उत्साह उत्पन्न करने में सहायता मिलेगी।

(३) स्थानीय विकास, विशेषकर कृषि उत्पादन के कार्यक्रम बनाए जाने चाहिएं और उन्हें गांवों और विकास खण्डों के लिए समन्वित किया जाना चाहिए और इन कार्यक्रमों और राज्य सरकार से प्राप्त होने वाले साधनों और उसके अतिरिक्त स्थानीय रूप से उपलब्ध किए जा सकने वाले साधनों में सम्बन्ध स्थापित किया जाना चाहिए।

(४) सरकारी नीति और दिन-प्रतिदिन के प्रशासन का यह लक्ष्य होना चाहिए कि सामुदायिक सम्पत्ति, जिस पर सम्पूर्ण गांव की मिल्कियत होगी, का निर्माण करने में सहायता दे। इसलिए राज्य सरकार की नीति सभी लोगों की सम्मिलित सामुदायिक सम्पत्ति, जैसे गांव के तालाब, मछलियां पालने के जौहड़, बागान, चरागाह आदि के निर्माण को प्रोत्साहन देने की होनी चाहिए। निजी और सामुदायिक आधार पर कर्ज़ देकर, ग्राम-जीवन में सामुदायिक कार्य क्षेत्र को सुदृढ़ बनाने के विशेष प्रयत्न करने चाहिएं।

(५) योजना में सम्मिलित किए गए सभी योजना-कार्य जिनमें अकुशल और अर्द्ध-कुशल कर्मचारियों की आवश्यकता है, वे यथासम्भव प्रत्येक गांव और प्रत्येक क्षेत्र में वहां के लोगों द्वारा ही सम्पन्न कराए जाएं, ताकि उससे जो रोज़गार मिले अथवा जो लाभ हों, वे गांव के लोगों को ही मिलें। जिन क्षेत्रों में बहुत अधिक बेरोज़गारी फैली हुई है, वहां स्थानीय अधिकारियों और राज्य सरकारों द्वारा विशेष निर्माण-कार्य चलाए जाने चाहिएं। इन सभी योजना-कार्यों में गांवों में प्रचलित दर पर ही मज़दूरी दी जाए और इस संभावना पर विचार किया जाए कि क्या मज़दूरी का कुछ भाग बचत सर्टिफिकेटों अथवा किसी और ऐसे तरीके

से चुकाया जा सकता है, जिसमें मज़दूरी की अदायगी बाद में हो।

परिषद् ने ग्रामीण क्षेत्र में और अधिक साधनों को गतिशील बनाने के प्रश्न पर विचार किया और ये सुझाव दिया कि योजना आयोग और राज्य सरकारों द्वारा निम्नलिखित संभावनाओं की पड़ताल की जाए—

(१) कुछ वर्तमान सेवाओं का उत्तरदायित्व स्थानीय अधिकारियों को हस्तान्तरित कर दिया जाए और साथ ही उन्हें आवश्यक आर्थिक सहायता भी दी जाए, और आगामी विकास के लिए राज्य से प्राप्त सहायता के समान आधार पर साधन स्थानीय अधिकारी स्वयं जुटाएं, जैसा हाल ही में मद्रास राज्य में किया गया है।

(२) इस सम्बन्ध में विशेष कदम उठाए जाएं : (क) भूमि राजस्व की वृद्धि, (ख) भूमि राजस्व पर उत्तरोत्तर बढ़ने वाले शुल्क, और (ग) व्यापारिक फसलें उगाने वालों की भूमि पर विशेष कर अथवा अतिरिक्त कर।

(३) ग्रामीण क्षेत्रों में बीमे की योजनाओं जैसे जीवन-बीमा, फसल बीमा, मवेशी बीमा आदि बीमा का प्रसार।

परिषद् ने इस प्रश्न पर भी विचार किया कि क्या भूमि राजस्व और सिंचाई करों को नगदी में न लेकर वस्तु रूप में लिया जाए। अधिकांश मत यह रहा कि ऐसा करने से बहुत सी कठिनाइयां पैदा होंगी।

सिद्धांत रूप से ये स्वीकार किया गया कि कृषि पर लगाए जाने वाला आय-कर और साधारण आय-कर में सामान्य रूप से समरूपता रखना वांछनीय है और इन दोनों विभागों से होने वाली आय को इकट्ठा जमा किया जाए। इस प्रस्ताव का विस्तृत ब्यौरा वर्तमान भूमि कर प्रणाली, जिसमें भूमि से प्राप्त होने वाला राजस्व और दूसरी आय सम्मिलित हैं, तथा संविधान की धाराओं को ध्यान में रख कर बनाया जाना चाहिए।

यह सुझाव दिया गया कि बिक्री-कर के बजाय केन्द्र द्वारा लगाए जाने वाले उत्पादन शुल्क की प्रणाली के विस्तार की संभावना पर और विचार किया जाए।

सिद्धान्त रूप से यह स्वीकार किया गया कि सिंचाई और बिजली योजना-कार्यों, सड़क परिवहन तथा दूसरे ऐसे सेवा-कार्यों, जो प्रत्यक्ष रूप से केन्द्रीय अथवा राज्य सरकारों द्वारा अथवा निगम या कम्पनियों के द्वारा चलाए जा रहे थे, अधिकतम आर्थिक लाभ प्राप्त करना चाहिए। इस सम्बन्ध में केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकारों द्वारा विस्तृत अध्ययन किया जाना चाहिए और उपयुक्त प्रस्ताव प्रस्तुत किए जाने चाहिएं।

परिषद् ने भविष्य निधि, जीवन बीमा और बचत के दूसरे साधनों का विस्तार करने की आवश्यकता को स्वीकार किया। इसके अन्तर्गत इसका अध्ययन भी किया जाना है कि उन योजनाओं को किस रूप में राष्ट्र-व्यापी बनाया जा सकता है। इसका विस्तृत ब्यौरा तैयार करते समय इसकी ओर विशेष ध्यान दिया जाए कि इन योजना में हिस्सा लेने वाले स्थानीय क्षेत्रों अथवा उन व्यक्तियों या समुदायों को क्या लाभ होंगे। इन अध्ययनों के परिणाम राष्ट्रीय विकास परिषद् के सामने रखे जाएं।